पुण्य कीर्त्तन

(प्रथम भाग)

प्रणेता
चन्द्रशेखर ओझा

खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर।
१९२२।

प्रारंभिक वक्तव्य।

इस पुस्तक का नाम "पुण्यकीर्तन" है। यह नाम कई दृष्टियों से सार्थक है। इस में पुण्यात्माओंका कीर्तन कियागया है। भारत के प्रसिद्ध प्राचीन पुण्यात्माओंका चरित इसमें लिखागया है। दूसरी बात यह है कि यह कीर्तन पुण्यमय है, इस कीर्तन के करनेवाले पुण्यभागी होते हैं; और तीसरी बात यह है कि यह कीर्तन पुण्य के लिए किया गया है। अतएव इस पुस्तक का नाम हम पुण्यकीर्तन रखते हैं और उसे सार्थतम समझते हैं।

एक मित्र कहते हैं कि इस पुस्तक का नाम चरित रक्खा जाय, पर हम चरित नाम देने से डरते हैं। हमारे डरने का जो कारण है वह भी सुन लीजिये। हमने भारतीय ऋषिमहर्षियोंके वृत्तान्त इस पुस्तक में संगृहीत किये हैं। पर सुना जाता है कि जमाना पलटगया और इस कारण पुराणों की ऐतिहासिकता छिनगयी, पुराण की बातें कल्पित हैं, ऐसी दशामें पुराणों से जो वृत्तान्त हमने संगृहीत किये हैं उन्हें चरित बतलाने का साहस हम कैसे करसकते हैं ? क्यों कि चरित भी तो इतिहास के उपादान हैं। अब आपही बतलावें कि अनैतिहासिक उपादानों से गठित इन वृत्तान्तों को हम चरित कहते डरें तो क्या कुछ बेजा है। इसी पलटेहुए जमाने के डरसे हम चरित नाम रखना उचित नहीं समझते, चाहे आप इसे हमारी कमजोरी भलेही समझें, पर बात सच्ची यही है; आप इस कमजोरी के लिये चाहे हमारा

उपहास करें, पर हमतो यह समझकर सन्तोष करते हैं कि कमजोरी भी आदमी में ही होती है।

इस पुण्यकीर्तन को लोग पसन्द करेंगे कि नहीं, इस बात का हमको कुछ भी भय नहीं है; जमाना पलट गया, पर भारत का हृदय नहीं पलटा है। वसिष्ठ, विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य, अगस्त्य, गौतम आदिका नाम सुनतेही आज भी भारत-वासी प्रसन्न होते हैं। बड़े बड़े राजनीतिक नेता भी इन महर्षियों का गुणगान करते हैं, इनको कही बातें, इनके समय के दृश्य, इनके समयकी घटनाएं तथा इनसे संबन्ध रखनेवाली अन्य बातें लोग अपने व्याख्यानों में श्रोताओं पर प्रभाव डालने के लिए कहते हैं। ऐसी दशामें नापसन्दगी का कौन भय! इसके अतिरिक्त इस पुस्तक के संबन्ध में एक और आक्षेप योग्य बात है जिसका छिपाना हम अनुचित समझते हैं, इस पुस्तक में बहुत प्राचीन काल की बातें पुराणों के आधारपर और पुराने ढंगसे लिखी गयी हैं। उनपर नतो आलोचना की गयी है और न अपनी सम्मतिही लिखीगयी है। ये बातें नवीनता क इस युगमें आक्षेप योग्य हैं, इसमें सन्देह नहीं। अतएव इस सम्बन्ध में हमारी कैसी स्थिति है सो हम बतला देना आवश्यक समझते हैं। तीन बातें आक्षेप योग्य हुईं—१ प्राचीन घटना का वर्णन, २ प्राचीनढंग से वर्णन, ३ आलोचना या सम्मति का अभाव। अच्छा, इनके सम्बन्ध में हमारी कैफियत भी सुन लीजिए।

१—हमें प्राचीन घटना प्रिय है, विश्वामित्र और वशिष्ठ का युद्ध पढ़ने सुनते तथा कहते हमें अच्छा मालूम होता है, विश्वामित्र के मुंह से जब हम सुनते हैं कि ब्रह्मबल बल है, और

परोक्षमें वशिष्ठ के मुंह से जब विश्वामित्रकी प्रशंसा सुनते हैं, तो बड़ा आनन्द आता है। इसी प्रकार और प्राचीन बातों के संबन्ध में भी समझिए। हमारी समझ है कि यह नवीनता उसी प्राचीनता से उत्पन्न हुई होनी चाहिए, हमारी नवीनता का सम्बन्ध उसी प्राचीनता से होना चाहिए। नवीन वही है जिसका कुछ प्राचीन है, प्राचीन के बिना नवीन नहीं, अतएव हमारी यह इच्छा होती है कि बार बार अपनी प्राचीनताकी आवृत्ति करें। इस नवीनता से मिलावें, देखें इसमें प्राचीनता के कुछ उपादान हैं कि नहीं, लोगों को सुनावें, समझावें।

२—घटना प्राचीन है, फिर उसके लिये लिखने का नया ढंग काम में लाना तो अच्छा नहीं दीखता। वाल्मीकि को मि० वाल्मीकि लिखना हमें तो भाता नहीं: आश्रमों के स्थान में बंगलों का उल्लेख चाहे कोई करे, पर हम तो ऐसा दुःसाहस नहीं कर सकते।

३—हम भला क्या आलोचना करें और सम्मति भी क्या दें, अगस्त्यजी ने बढ़ते हुए विन्ध्याचल को नवा दिया। यह एक घटना है, इसकी आलोचना हम क्या करें और सम्मति भी क्या दें। आलोचना करने वालों के लिये इस बात के जानने की जरूरत है कि अगस्त्य विन्ध्य घटना क्यों हुई। इन दोनों की शक्ति, इनदोनों के सम्बन्ध तथा उस समय की स्थिति-इन बातों का भी ज्ञान समालोचक को होना चाहिए, पर दुःख है कि बहुत ढूंढने पर भी अगस्त्य विन्ध्य की घटना की और सामग्रियां हमें नहीं मिलीं। हम भला अगस्त्य की शक्ति का अन्दाजा कैसे लगा सकते हैं? समुद्र सोखनेवाले कहां अगस्त्य, और कहां एक लोटे में घबराने वाले हम!

ऐसी स्थिति में हमने जो किया है वह आपके सामने है। यदि आपको प्राचीनतासे प्रेम हो, यदि आप प्राचीन विचारों को पढ़कर ऊबते न हों, और यदि आप प्राचीनता को नवीनता का उत्पादक समझते हों, तो एक बार इस पुस्तक को पढ़ देखिए।

चन्द्रशेखर

विषय सूची।

	पृष्ठ संख्या
१—महर्षि कश्यप	१
२—कपिलमुनि	४
३—गुरु दत्तात्रेय	१४
४—देवगुरु बृहस्पति	२१
५—दैत्यगुरु शुक्राचार्य	३६
६—महर्षि अगस्त्य	४२
७—देवर्षि नारद	५०
८—महर्षि वशिष्ठ	७३
९—योगिराज याज्ञवल्क्य	८८
१०—महर्षि वेदव्यास	१००
११—महर्षि वाल्मीकि	१०३
१२—महामुनि भीष्म	११४
१३—महर्षि पतञ्जलि	११७
१४—राजा जनक	१३०
१५—गुरु मत्स्येन्द्रनाथ	१४६
१६—गुरु गोरखनाथ	१५२
१७—भर्तृहरि	१५६

पुण्य कीर्त्तन।

प्रथम भाग।

महर्षि कश्यप।

ब्रह्मा के दस मानस पुत्र थे। उन में एक प्रजापति मरीचि थे। मरीचि अरिष्टनेमी नाम से भी प्रसिद्ध थे। इन की माता का नाम कला था। ये महासती थीं और कर्दम ऋषि की पुत्री थीं। उनके भाई का नाम कपिल मुनि था। ये वे ही कपिल मुनि हैं जिन्हों ने संसार में सब से पहले ज्ञानप्रसार किया था। इन्हीं महर्षि मरीचि के पुत्र कश्यप थे। कश्यप ने दक्ष प्रजापति की अदिति, दिति, कपिला, विनता, इत्यादि तेरह कन्याओं से विवाह किया था।

कश्यप बड़े ही तेजस्वी, तपस्वी और ज्ञानी थे। उनकी जटा अग्नि के समान दीप्तिमान् थी। वे अग्नि के समान प्रज्वलित रहते थे, उनके समीप जाना कठिन काम था। वे सब ऋषियों में प्रतिष्ठित थे। देवता, दानव आदि उनके पुत्र हैं। कश्यप ऋषि की अदिति नामक स्त्री के गर्भ से आदित्य उत्पन्न हुए थे। विष्णु भगवान् ने वामन रूप धारण किया था और उनका जन्म इन्हीं अदिति के गर्भ से हुआ था। ये ऋषि प्रजा-

पति थे। देवता, दानव, मनुष्य आदि इन्हीं के वंशज हैं। भागवत में लिखा है कि इनकी १७ स्त्रियां थीं और उन से सृष्टि के अनेक प्राणियों की उत्पत्ति हुई थी। अदिति से देवता, दिति से दैत्य, दनु से दानव, काष्ठा से अश्व आदि, अरिष्टा से गंधर्व, सुरसा से राक्षस, मुनि से अप्सरा, क्रोधवशा से सर्प, ताम्रा से श्येन और गृध्र आदि, सुरभि से गौ और भैंस, सरमा से श्वापद, तिमि से जलचर, विनता से गरुड और अरुण, कद्रू से नाग, पतंगी से आकाशचारी पक्षी और यामिनी से कीड़े, पतंगे आदि पैदा हुए।

कश्यप मुनि बड़े ही नीतिप्रिय थे, वे नीति के विरुद्ध किसी का भी आचरण देख नहीं सकते थे। वे सदा धर्म का पक्ष लेते थे। वह धर्म चाहे जिसके पक्ष में हो। चाहे प्रिय हो चाहे अप्रिय हो; यदि उसका पक्ष अधर्म का हो, तो कश्यप मुनि उसकी तरफदारी कभी नहीं करते थे। धर्मानुकूल पक्ष ही इनका पक्ष था। इन्द्र कश्यप के प्रिय पुत्र हैं, उनका जन्म अदिति के गर्भ से हुआ है। एक समय इन्द्र कश्यप के पास बैठे थे, वहां मयदानव आया और उसने इन्द्र से कहा—देवराज, इन्द्र का पद शिव जी ने आप को दिया है। और विद्याधर चक्रवर्तिपद पर सूर्यप्रभ का वरण किया है। मय की बातें सुन कर इन्द्र को बड़ा क्रोध आया। इन्द्र ने झट अपना वज्र उठाया और वे मयदानव को मारने के लिये तैयार हो गये। यह देख कर कश्यप को बड़ा क्रोध आया और वे मय की ओर से इन्द्र का सामना करने के लिये तैयार हुए। पिता को सामने देख इन्द्र ने वज्र रख दिया और हाथ जोड़ कर उन्हों ने पिता से कहा—भगवन्, मैंने श्रुतशर्मा को

विद्याधर चक्रवर्ती का राज्य पद दिया है। अब यह मयदानव उस राज्य को छीन लेने के लिये तैयार हुआ है। अब बतलाइये, ऐसी दशा में मुझे क्या करना चाहिए? शत्रुताचरण करनेवाले मयदानव का वध करना क्या हमारे लिए पाप होगा? कश्यप ने कहा—बेटा इन्द्र, तुमको श्रुतशर्म्मा प्रिय है इसमें संदेह नहीं, और सूर्यप्रभ शिव जी को प्रिय है यह भी सच्ची बात है। श्रुतशर्म्मा और सूर्यप्रभ इन दोनों में चक्रवर्तिपद पाने के लिए कौन अधिक योग्य है, इसका यदि विचार किया जाय तो सूर्यप्रभ ही इस पद के लिये सब प्रकार से योग्य ठहरता है। क्या तुम समझते हो कि शिव जी का प्रेम निष्फल जायगा? दूसरी बात यह है कि मय दानव को शिव जी ने इस काम में सहायता करने की आज्ञा दी है। उस पर तुम क्यों क्रोध करते हो? उस का अपराध क्या है? वह सदा अपने बड़ों के साथ नम्रता का व्यवहार करता है। उसको यदि तुम दुःख दोगे तो स्मरण रखो, शाप दे कर मैं तुम्हें भस्म कर दूंगा। तुम को चाहिए कि तुम सदा न्याय पूर्वक बर्ताव करो। किसी के साथ अन्यायाचरण भूल कर भी न करो। इन्द्र, तुम को समझ रखना चाहिये कि मैं अन्यायियों से घृणा करता हूं और न्यायवानों से प्रेम। कश्यप ने मयदानव से कहा—इन्द्र ने क्रोध पूर्वक तुम्हारे ऊपर वज्र उठाया था, पर नम्रता और गम्भीरता पूर्वक तुम ने उसका सहन किया। तुम्हारा यह विवेक धन्यवाद के योग्य है! तुम्हारे इस विवेक से प्रसन्न हो कर मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूं कि जरा मृत्यु की बाधा तुम्हें न होगी। शस्त्रों से तुम्हारे शरीर की कोई हानि न होगी। सूर्यप्रभ भी तुम्हारे ही समान पराक्रमी

होगा। कोई भी शत्रु उसे हरा न सकेगा। यदि किसी समय किसी कारण तुम पर कोई आपत्ति आवे तो तुम हमारे पुत्र सुवास कुमार का स्मरण करना। वह अवश्य ही तुम्हारी सहायता करेगा।

इस प्रकार के और भी उदाहरण हैं जिन से कश्यप की न्यायप्रियता का परिचय मिलता है। कश्यप के जीवन सम्बन्धी घटनाओं पर विचार करना हमलोगों की शक्ति के बाहर की बात है। वे ऋषि थे, परम ज्ञानी थे और इस महती सृष्टि के निर्माता थे। उन्हों ने जैसे प्रवाह बहाये वैसे बहे। यदि कोई अनुशीलनप्रिय कश्यप के गुणों पर विचार करना चाहता हो, इन के जीवन की घटनाओं पर सम्मति प्रकाशित करना चाहता हो, तो उसे कश्यप की सृष्टि का अध्ययन करना चाहिए। पर यह काम सीधा नहीं।

कश्यप ऋषि सप्तऋषियों में थे। इन्हीं की कृपा से नर-वाहनदत्त को विद्याधर चक्रवर्ती का पद मिला था। इन्हों ने एक स्मृति का ग्रन्थ बनाया है, जो कश्यप स्मृति के नाम से प्रसिद्ध है। मेरु पर्वत के शिखर पर इन का ग्राम था और वहीं ये परमात्मा का चिन्तन किया करते थे।

कपिल मुनि।

यह महात्मा कर्दम ऋषि जो कि प्रजापति थे, उन के पुत्र थे। यह कपिल मुनि विष्णु के चौबीस अवतारों के अन्तर्गत पाँचवें अवतार समझे जाते हैं। इनकी माता का नाम देवहूति था। और ये स्वायम्भुवमनु की पुत्री थीं। कपिलदेव का जन्म

पुष्कर नगर के पास किसी स्थान में हुआ था। ये महामुनि सिद्ध नाम से देवताओं की गणना में गिने जाते हैं। यह बड़े तेजस्वी थे। इन का अवतार परोपकार के लिए हुआ था। मनुष्यतारक सांख्य-योग प्रकट कर पृथ्वी में अनेक अधर्मों का इन्हों ने नाश किया। ये सांसारिक कामों में और भोगविलासों में कभी नाम मात्र भो चित्त नहीं लगाते थे। मंगलमय भगवत्स्वरूप कपिल मुनि ने अपनी माता देवहूति को मुक्ति देने के लिए मातृप्रेम से—जहां पर योगेश्वर भक्ति द्वारा सिद्धि को प्राप्त करते हैं—उस सरस्वती क्षेत्र में ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया, जिस के द्वारा माता देवहूति ने मुक्ति प्राप्त की। वहां पर कपिल मुनि का आश्रम है। थोड़े दिनों के पश्चात् वे वहां से उत्तर दिशा में गंगा किनारे गये। वहां जाकर उन्हों ने मनुष्यों का उद्धार करने के लिए प्रबल प्रयत्न किया। गंगासागर से आते समय समुद्र ने उन की पूजा कर बैठने के लिए आसन दिया था। वहां पर बैठ कर उन्हों ने योगाभ्यास किया था। इस लिए कि कलियुगवासी मेरा दर्शन कर पापों से मुक्त हों, इस समय भी गंगासागर में कलकत्ते के पास कपिल मुनि का आश्रम वर्त्तमान है। उस की यात्रा करने के निमित्त हजारों मनुष्य जाते हैं। सगर राजा ने ९९ यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण किये थे। आखिरी अश्वमेध यज्ञ करने के समय इन्द्र ने जाकर यज्ञ के अश्व को पाताल में जहां पर कपिलदेव समाधि में बैठे थे वहां बांध दिया। उस अश्व की रखवाली सगर के ६० हजार पुत्र करते थे। लोग अश्व को ढूंढ़ते २ थक गये, किन्तु कुछ पता नहीं लगा। अन्त में वे निराश हो कर सगर राजा के पास आये। सगर ने उन को पाताल में भेजा। वहां

जाकर उन लोगों ने अश्व को कपिल मुनि जी के पीछे की तरफ बंधा हुआ पाया। बस, तुरन्त ही वे लोग जोश में आकर बोले कि इस अश्व का चोर यह बैठा हुआ मुनि ही होगा। ऐसा समझ कर सब के सब एक साथ चिल्ला उठे और कहने लगे कि यह अश्व हमारा है; इसको छोड़ो २। उसी प्रकार उन्हों ने चोर समझ कर मुनिदेव को मारना शुरू किया। इस कारण कपिलदेव की समाधि भंग हुई। उन्हों ने आंख खोल कर उन लोगों को सामने देखा। महर्षि की आंख की क्रोधाग्नि में समस्त सगरपुत्र जल कर भस्म हो गये। पीछे से खबर ले जाने के लिए एक भी नहीं बचा। बहुत समय व्यतीत होने पर भी अश्व की खबर लेकर कोई नहीं लौटा, इस का क्या कारण है? यह विचार कर सगर ने अंशुमान् को भेजा। उस ने कपिल मुनि की स्तुति कर अश्व को प्राप्त किया। कपिलदेव ने कहा कि ये तेरे चचा जल कर भस्म हो गये हैं। वे लोग गंगा के स्पर्श से मुक्ति पावेंगे। यह सुन कर मुनि की आज्ञा ले वह रवाना हुआ। कपिलदेव पृथ्वी पर अनेक स्थानों में भ्रमण करते हुए सांख्य ज्ञान का उपदेश देते थे। अनेक समाजों में उन्हों ने अपने विचारों को प्रकट कर वादविवाद किया था।

महर्षि कपिल के बनाये सांख्य दर्शन का नाम तत्त्वसमास है। वह बहुत ही छोटा है। सांख्य दर्शन के भाष्यकार विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि इस समय पाया जाने वाला सांख्य दर्शन भी महर्षि कपिल का ही बनाया है। आज कल पाये जाने वाले सांख्य दर्शन को सांख्यप्रवचन कहते हैं। इसका कारण यह है कि तत्त्वसमास नामक ग्रन्थ का इसमें

प्रपंच किया गया है और पातञ्जल दर्शन भी इसी कारण से प्रवचन कहा जाता है ।

सांख्य दर्शन में ईश्वर नहीं माना गया है। एक प्रकार से इस दर्शन में ईश्वर का खंडन किया गया है। अतएव इस दर्शन का दूसरा नाम निरीश्वर सांख्यदर्शन भी है। विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि सूत्रकार का तात्पर्य ईश्वरखण्डन में नहीं है। सूत्रकार का तात्पर्य केवल इतनाही है कि ईश्वर के न मानने पर भी विवेक साक्षात्कार के द्वारा मुक्ति होने में कोई बाधा नहीं होती। यदि ईश्वर का खण्डन करना सूत्रकार का अभिप्राय होता तो वे "ईश्वरासिद्धेः" सूत्र न बना कर "ईश्वराभावात्" सूत्र बनाते। वाचस्पति मिश्र इस बात को नहीं मानते। उनके मत से सांख्य दर्शन निरीश्वर दर्शन है।

महर्षि कपिल के शिष्य आसुरि और आसुरि के शिष्य पञ्चशिख आचार्य ने सांख्य दर्शन के बहुत से ग्रन्थ बनाये हैं। पर इस समय वे सब ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं । उनमें बहुतों का इस समय पता मिलना भी कठिन होगया है । ईश्वर कृष्ण ने " सांख्यकारिका " नामक ग्रन्थ बनाया है। यह ग्रन्थ प्रामाणिक और उत्तम समझा जाता है। इस समय सांख्यदर्शन के जो सूत्र पाये जाते हैं उनकी अपेक्षा कारिका का आदर प्राचीन आचार्यों ने भी अधिक किया है। भगवान् शंकराचार्य ने सांख्यदर्शन के मत खण्डन करने के समय सूत्र को छोड़कर सांख्य कारिका ही उद्धृत की है। इससे यह बात स्पष्ट मालूम पड़ती है कि भगवान् शंकराचार्य के मत से प्रचलित सांख्यसूत्रों की अपेक्षा

सांख्यकारिका अधिक आदरणीय है। प्रचलित सांख्यदर्शन में ४५६ सूत्र हैं। ये सूत्र ६ अध्यायों में विभक्त हैं। पहले अध्याय में हेय, हेयहेतु, हान और हानहेतु का निरूपण है। दुःख हेय है, प्रकृति पुरुष का अविवेक अथवा अभेद ज्ञान ही दुःख का हेतु है। दुःख को अत्यन्त निवृत्ति हान है। प्रकृति और प्रकृति के कार्य बुद्धि आदि से भिन्न हैं—इस प्रकार का ज्ञान अत्यन्त दुःखनिवृत्ति का कारण है। प्रथम अध्याय में इन्हीं बातों का निर्णय किया गया है। दूसरे अध्याय में प्रकृति के सूक्ष्म कार्य, तीसरे अध्याय में प्रकृति के स्थूल कार्य, लिंग शरीर, स्थूल शरीर, अपर वैराग्य और पर वैराग्य का निरूपण किया गया है। चौथे अध्याय में शास्त्रप्रसिद्ध आख्यायिकाओं के द्वारा विवेक ज्ञान के साधन का उपदेश दिया गया है। पाचवें अध्याय में अपने विरोधि मत का खण्डन किया गया है और छठे अध्याय में इस शास्त्र के मुख्य विषयों की व्याख्या और उपसंहार किया गया है।

विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि श्रवण के पश्चात् आत्मा के मनन के लिये महर्षि कपिल ने इस दर्शन का प्रणयन किया है। यह दर्शन श्रुति का विरोधी नहीं है और इस में श्रुति के अनुकूल उपपत्ति और युक्तियां दी गई हैं। ईश्वर कृष्ण की सांख्य-कारिका गौडपादाचार्य कृत सांख्य कारिका भाष्य, वाचस्पति मिश्र कृत सांख्यतत्त्वकौमुदी, विज्ञानभिक्षु कृत सांख्य भाष्य आदि इस दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थ हैं और इस समय उपलब्ध होते हैं। सांख्य दर्शन का पहला सूत्र है—

" अथत्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः "

न्याय दर्शन के समान सांख्य दर्शन भी त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति ही परम पुरुषार्थ मानता है। दुःख तीन प्रकार के हैं, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक। भीतरी कारणों से उत्पन्न दुःख को आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। शरीर और इन्द्रियों के संघात को ही साधारण लोग आत्मा कहते हैं। इस संघात से उत्पन्न दुःख आध्यात्मिक दुःख कहा जाता है। वह दो प्रकार का होता है—शारीरिक और मानस। वात, पित्त और श्लेष्मा की साम्यावस्था का नाम आरोग्य है। उन की विषमता से ही रोग उत्पन्न होते हैं। इन की विषमता के कारण उत्पन्न होने वाले रोगों से जो दुःख उत्पन्न होता है वह शारीरिक है। काम, क्रोध लोभ, मोह और भय आदि के द्वारा जो दुःख उत्पन्न होता है वह मानस दुःख है। आधिदैविक और आधिभौतिक दुःख बाहरी कारणों से उत्पन्न होते हैं। मनुष्य, पशु, तथा स्थावर आदि के द्वारा जो दुःख उत्पन्न होता है, वह आधिभौतिक दुःख है; क्योंकि ऐसे दुःख भूत नामक पदार्थों से ही उत्पन्न होते हैं। यक्ष, राक्षस आदि के लगने से जो दुःख होता है वह आधिदैविक दुःख है। इन तीन प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति ही मुक्ति है। विवेक ज्ञान त्रिविध दुःख निवृत्ति के अथच मुक्ति के हेतु हैं। प्रकृति पुरुष के भेदज्ञान को विवेक ज्ञान कहते हैं। विवेक ज्ञान प्राप्त कराने के लिए ही सांख्य दर्शन उत्पन्न हुआ है।

सांख्याचार्य कहते हैं—यदि संसार में दुःख न होता, अथवा उस दुःख को दूर करने की इच्छा लोगों में न होती, तो कोई

भी शास्त्रीय बातों के जानने का प्रयत्न न करता। पर बात ऐसी नहीं है, मनुष्य दुःखों का अनुभव करता है और दुःख को बुरा समझता है। ऐसा कोई भी नहीं है जो दुःख को अच्छा समझता हो। जो अनुकूल नहीं है उस के त्याग की इच्छा मनुष्यों में स्वभाव से ही उत्पन्न होती है। अन्य शास्त्र अथवा सांख्य दर्शन दुःखों को दूर करने के उपाय बतलाते हैं, इसी लिए लोग शास्त्रकथित बातों को जानने के लिए उत्सुक होते हैं और शास्त्र रचयिता के विषय में श्रद्धा प्रकट करते हैं। जनता जिस बात को जानना न चाहे यदि वक्ता वह बात कहे, तो कोई भी उस वक्ता की बातें नहीं सुनता। कोई कोई तो वैसे वक्ता को उन्मादी समझ लेते हैं और उसकी उपेक्षा करते हैं। जिस दुःख से जनता नितान्त व्याकुल है और वह उस दुःख को दूर करना चाहती है, शास्त्र उसी दुःख को दूर करने का उपाय बतलाते हैं। अतएव शास्त्र की बातें जनता को इष्ट हैं और आवश्यक भी हैं। ऐसी दशा में शास्त्रीय बातों को कौन मनुष्य ध्यानपूर्वक न सुनेगा।

यह बात ठीक है कि शास्त्र में कहे उपायों से दुःख दूर करना होता है; पर वे उपाय हैं कठिन। शास्त्र में विवेक ज्ञान को दुःख दूर करने का हेतु बतलाया है, पर विवेक ज्ञान प्राप्त करना तो सीधी बात नहीं है। अनेक जन्मों के प्रयत्न से विवेक ज्ञान प्राप्त होता है। यही बात भगवान् ने गीता में कही है :—

"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।"

पर लौकिक उपायों से इन दुःखों को दूर करना आसान

है। अच्छे वैद्य की दवा से शरीर संबन्धी रोग दूर हो जाते हैं; इसी प्रकार मन प्रसन्न करने वाले उपायों द्वारा मानसिक रोग दूर होते हैं। नीति शास्त्र कुशलता तथा निरापद अच्छे स्थानों में रहने से आधिभौतिक दुःख और मणि, मन्त्र आदि के द्वारा आधिदैविक दुःख भी दूर किये जा सकते हैं और सो भी थोड़े परिश्रम से। ऐसे दुःख दूर करने के सरल उपायों के रहते शास्त्रोपदिष्ट कठिन उपायों के करने के लिए कौन तैयार होगा। संस्कृत की एक कहावत है :—

अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्॥१

अर्थः—यदि घर के कोने में मधु मिल जाय तो मधु के लिए कोई पर्वत पर क्यों जायगा। यदि अनायास ही इष्ट की सिद्धि हो तो उसके लिए कौन मनुष्य प्रयत्न करना पसन्द करेगा।

यद्यपि आपत्ति बड़ी मज़बूत मालूम पड़ती है, पर विचार करने से इसका पोलापन अनायास ही समझ में आ जाता है। देखा गया है कि पथ्यपूर्वक औषध सेवन करने पर तथा मन प्रसन्न करनेवाले उपायों और मणि, मन्त्र आदि के द्वारा भी आध्यात्मिक आदि दुःख दूर नहीं होते। इससे इस बात के मानलेने में सन्देह का कारण नहीं है कि इन उपायों से भी दुःख दूर होते हैं; पर इस बात का निश्चय नहीं है कि इनके द्वारा अवश्य ही दुःख दूर होते हैं। दूसरी बात यह है कि कभी २ इनके द्वारा दुःखों के दूर होने पर वे पुनः हो जाते हैं। पर विवेक ज्ञान के लिए यह बात नहीं है, उसके द्वारा

दुःख अवश्य ही दूर होते हैं, और विवेक ज्ञान के द्वारा एक बार दुःखों के दूर होने पर वे पुनः उत्पन्न नहीं होते, यह भी निश्चित है। क्योंकि मिथ्या ज्ञान ही दुःखों का कारण है, सो विवेक ज्ञान के द्वारा नष्ट हो जाता है। फिर कारण के नष्ट होने पर कार्य के उत्पन्न होने की सम्भावना कैसी ?

यज्ञादि के अनुष्ठान करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, और दुःख रहित सुख का ही नाम स्वर्ग है। फिर जब इस प्रकार थोड़े कष्ट से दुःख निवृत्ति हो रही है तब अनेक जन्म साध्य विवेक ज्ञान के लिए प्रयत्न करना अनर्थक है। यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्वर्गप्राप्ति के द्वारा जो दुःखों का नाश होता है कुछ काल के लिए उससे दुःख का अत्यन्त विच्छेद नहीं होता, क्योंकि यज्ञ में पशु आदि हिंसा करनी पड़ती है। इस दर्शन के मत से श्रुतिकथित हिंसा भी पाप है। यज्ञ के द्वारा जिस प्रकार पुण्य होता है, उसी प्रकार यज्ञीयहिंसा जनित पाप भी होता है। यह बात दूसरी है कि पाप की मात्रा बहुत ही कम होती है, पर पुण्य के साथ पाप भी होता है, इसमें सन्देह नहीं। इस कारण यज्ञ के द्वारा जो स्वर्ग प्राप्त होता है, उसमें सुख के साथ दुःख की मात्रा थोड़ी ही सही, पर रहती है अवश्य। पर उस का अनुभव स्वर्गीय व्यक्ति को इस कारण नहीं होता कि वे सुख की अधिकता से मुग्ध होते हैं, सुखराशि में थोड़ा सा दुःख ऐसा मिल जाता है कि उसका भानही नहीं होता।

सांख्य धर्मसिद्धान्तः—ब्रह्मविद्या आत्मनिष्ठयोगी [illegible] के [illegible] का कारण है। उसी के द्वारा सुख

दुःख की निवृत्ति होती है, चित्तही जीव के बन्धन तथा मुक्ति का कारण है। चित्त के ही विषयों में आसक्त होने के कारण जीव का बंधन होता है और ब्रह्म में संलग्न होने से मुक्ति प्राप्त होती है। शरीर में आकाश, अग्नि, जल, और पृथिव्यादि तत्वों के स्वरूपों को जान कर प्राण, अपान को गति रोकने से असंग चैतन्यरूप आत्मा अपनी स्वयं प्रकाशमान ज्योति से प्रकाशमान होता है। तब यह देह रूप सम्पूर्ण इन्द्रियों का व्यवहार मिथ्या जान पड़ता है। सांख्य ज्ञान में चौबीस तत्वों के तत्वज्ञान से मोक्ष माना गया है। ज्ञान रूपी आत्मा, पुरुष चैतन्य है, वह केवल अकर्ता साक्षी रूप है। सृष्टि कार्य, सुख, दुःखादि रूप बनाने वाली तो तीन गुणवाली प्रकृति है। प्रकृति जड़ है, और भोक्ता रूप आत्मा पुरुष चेतन है। दोनों साथ में रहते हैं; प्रकृति रूपान्तर को प्राप्त होती है। उस प्रकार पुरुष रूपान्तर को नहीं प्राप्त होता। प्रकृति पुरुष के संबन्ध से ही स्वतः गति को प्राप्त होती है और पुरुष प्रकृति के कर्मादि को अपना मान कर मोह को प्राप्त हो जीवरूप से बंधा हुआ रह कर दुःखी होता है और बराबर शुभाशुभ कार्यों को करता है। इसी कारण जन्म जन्मान्तर को प्राप्त हुआ करता है। इस जन्म मरण रूपी रोग को दूर करने के लिये सूक्ष्म (लिङ्ग) देह का सम्बन्ध छोड़ देने पर मुक्ति मिल सकती है। अनेक प्रकार के सुख दुःख प्रकृति के धर्म हैं। और आत्मा स्वयं अकर्ता है, इस प्रकार आत्म पुरुष को जब ज्ञान होता है तब मोक्ष मिलता है। आत्मसंबन्धी संपूर्ण ज्ञानों से प्रकृति का क्षय होता है तब प्रकृति का बंधन

टूटने पर शुद्ध चैतन्य प्रतीत होता है और तभी मोक्ष होता है। इत्यादि।

कपिलमुनि का उपदेश ज्ञानप्रद है। इस बात को जानने के लिए सज्जनों को प्रयत्न करना चाहिए। यह महात्मा मुनि तपोबल से निरहंकार अर्थात् देहादि में अहं बुद्धि शून्य अखंड भक्ति द्वारा ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त हुए हैं।

भगवान् कपिल अमर हैं, उनका भौतिक शरीर नष्ट हो गया; फिर भी वे अमर हैं और रहेंगे। उन्हों ने संसार में भारत में सब से पहले दार्शनिक ज्योति प्रकाशित की है। संसार के दुःखी प्राणियों पर सबसे पहले इन्होंने दया की, सब से पहले इन्होंने ही तीन प्रकार के दुःखों को सदा के लिए दूर करने का उपाय बतलाया। इस प्रकार अनुपम उपकार करने वाला क्या अमर नहीं है? क्या मानव जाति अपने इस प्रथम दार्शनिक को भूल जायगी? भूलना नहीं चाहिए; यदि वह भूले तो स्वयं उस की ही आत्मा अपने को कृतघ्न समझेगी।

गुरु दत्तात्रेय।

ये परमब्रह्मनिष्ठ अवधूत योगी अत्रि ऋषि के पुत्र थे। उन की माता का नाम अनसूया था। उन परम पवित्र सती के दत्तात्रेय, दुर्वासा और चन्द्रमा ये तीन पुत्र थे। विष्णु, महादेव और ब्रह्मा इन तीनों देवताओं ने मिल कर उन के गर्भ से अवतार धारण किया था। यह अवतार विष्णु भगवान् के चौबीस अवतारों के अन्तर्गत गिना जाता है। वेद का ज्ञान

और ज्ञानकाण्ड के द्वारा गुरु ज्ञान का उपदेश देने के लिये यह अवतार त्रेता युग में हुआ था। वे महाविद्वान्, प्रवीण और सुरूप थे। षट्शास्त्रों का अध्ययन कर उन शास्त्रों के सिद्धान्तों के याथार्थ्य का निश्चय किया था। उन में से वेदान्त शास्त्र को उन्हों ने प्रधान माना है। ये अवधूत योगी, त्रिकालदर्शी, समर्थ, ज्ञानी, निर्विकारी और अमृतवद्भाषण करने वाले थे और विषय भोग, स्त्री पुत्रादि से रहित हो कर सम्पूर्ण आसक्तियों से मुक्त हुए। विद्वान् होने पर भी बालोन्मत्त, जड और पिशाच के समान ब्रह्मध्यान में मग्न होकर भूमि पर भ्रमण करते थे। योग क्रिया में उन्हों ने अनेक प्रकार की वृद्धि तथा संशोधन किया है। उस में सर्वदर्शी किस प्रकार बना जा सकता है, परकाय प्रवेश किस प्रकार किया जा सकता है, जगद्रचना तथा अनेक प्रकार के शरीरों की रचना किस प्रकार से जाननी चाहिये—इत्यादि ज्ञान सम्बन्धी बातों का निश्चय किया है। इन्हों ने अपनी योग क्रिया से अनेक चमत्कारकृत्य किये हैं, जिस में इन्हों ने अंधे को आंख, लंगड़े को पांव और मृतक को जीवित किया है। इन्हों ने अलर्क, प्रह्लाद, सहस्रार्जुन और यदु को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया था। इस संसार रूपी माया के जाल से विमुक्त होने के लिये इन्हों ने प्रथम अपनी बुद्धि से ही निश्चित किये हुए २४ गुरुओं को गृहण कर स्वदोषों का त्याग किया था। उसी ज्ञान का उपदेश इन्हों ने गोदावरी नदी के तट पर यदु राजा को किया था। उस का सारांश नीचे लिखा जाता है—

दत्तात्रेय के चौबीस गुरु।

पृथ्वी—पृथ्वी को मनुष्य तथा अन्यप्राणी कितना ही दबाते हुए दुष्कर्म करते हैं तथापि वह अपने नियम से चलायमान नहीं होती। इसी प्रकार साधु पुरुषों को भी कोई कितनाही दबावे, उसे कितने ही कष्ट सहन करने पड़ें परन्तु वह तब भी अपने नियम अथवा कर्तव्य से कदापि चलायमान नहीं होते। यह गुण उन्हों ने पृथ्वी से सीखा था।

पर्वत—पर्वत भी पृथ्वीरूप है, वह अचल है। झाड़, झङ्खाड़ और झरने इत्यादि उत्पन्न करने की उस की सम्पूर्ण क्रियायें निरन्तर परोपकार के लिये ही हुआ करती हैं। उसी प्रकार साधु पुरुष को भी अपनी समस्त क्रियायें और जीवन भी परोपकारार्थ ही समझना चाहिये।

वृक्ष—वृक्ष भी पृथ्वी है; वह निरन्तर पराधीन, और उस के समस्त फल फूल परोपकार के लिये ही हैं। चाहे उसे कोई काट डाले या समूल उखाड़ ले जाय, उसे यह सब स्वीकार है। उसी प्रकार साधु पुरुष को भी पराधीन रह कर उसे सब बात स्वीकार करनी चाहिये। चाहे उसे कोई अपने काम के लिये मार डाले अथवा उठा ले जाय।

२ वायु—वायु जल में रहने से प्रसन्न नहीं और अग्नि में रहने से नाराज नहीं होता। उसी प्रकार योगी पुरुष को भी शीत उष्णादिक—अनेक धर्म वाले विषयों में अनुकूलता

या प्रतिकूलता होने पर प्रसन्न या अप्रसन्न नहीं होना चाहिये। वायु जिस प्रकार सुगन्धित या दुर्गन्धित मालूम होता है किन्तु वास्तव में न तो वह सुगन्धित है और न दुर्गन्धित ही है। उसी प्रकार आत्मा भी पृथिव्यादि के विकार रूप देहादिक के साथ रहने से जन्म-मरणादि युक्त प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में न वह जन्म लेता है और न मरताही है। यह उन्हों ने वायु से सीखा था।

—प्राण भी वायुरूप ही है। वह जिस प्रकार आहार मिलने से सन्तुष्ट होता है, किन्तु रूप रसादिक इन्द्रियों के विषयों की अपेक्षा नहीं रखता, उसी प्रकार योगीपुरुष को भी आहार प्राप्त होने से सन्तोष रखना चाहिये। किन्तु अच्छे बुरे आहार की अथवा दूसरे विषयों का इच्छा नहीं रखनी चाहिये। केवल शरीर के निर्वाह के लिये जैसा आहार मिल जाय वैसा ही खा लेना चाहिये।

।काश—यद्यपि आकाश सर्वव्यापी है पर तब भी उस को किसी का साथ नहीं है या किसी पदार्थ से उस का माप भी नहीं हो सकता; उसी प्रकार देह के अन्दर होने पर भी योगी को ब्रह्मरूप की भावना से अपनी आत्मा को स्थावर जंगमों में व्याप्त समझ कर उस आतमा को देहादिक से सम्बन्ध नहीं है, या किसी पदार्थ से उस का माप नहीं हो सकता ऐसा समझना चाहिये। और भी, आकाश को जिस प्रकार वायु से

प्रेरित आने जाने वाले मेघ अथवा धूलि आदि पदार्थों का स्पर्श नहीं होता उसी प्रकार काल से उत्पन्न पृथ्वी, जल और देहादिक पदार्थ जो कि शरीर में आया जाया करते हैं और उन का स्पर्श अपने को नहीं होता, इसी प्रकार योगी जन को जानना चाहिये। यह शिक्षा उन्हों ने आकाश से ग्रहण की।

४ जल—जल मनुष्यों को स्वच्छ, मधुर और पवित्र करने वाला है। इसी प्रकार योगी पुरुष को भी स्वच्छ और शुद्ध रह कर मधुर बोलना और दूसरों को उपदेश देकर उसे भी शुद्ध करना चाहिये। यह शिक्षा जल से ग्रहण की।

५ अग्नि—जिस प्रकार तेजस्वी, प्रताप से दीप्तिमान्, सम्पूर्ण वस्तुओं को भस्म कर खा जाने पर भी दोष से रहित रहती है, कहीं गुप्त रीति से और कहीं प्रकट रीति से रहकर और कल्याण की इच्छा रखने वालों से उपासना करने योग्य है, हवि देने वालों के भूत और भविष्य के पापों को भस्म कर दूसरों की इच्छा से सब जगह खालेती है, उसी प्रकार योगी पुरुष को भी कहीं गुप्त कहीं प्रगट रहना और कल्याण चाहनेवाले मनुष्यों से उपासना करने योग्य रहना चाहिये। और अन्न देनेवालों के भूत, भविष्य के सम्पूर्ण पापों को जला डालना चाहिये। और अग्नि जिस प्रकार काष्ठ में रहने के कारण और काष्ठ अनेक प्रकार के छोटे बड़े होने से उनमें रहने वाली अग्नि छोटी बड़ी नहीं कही जा सकती, उसी प्रकार आत्मा भी अपनी अविद्या

के कारण ऊंच या नीच देहों में रहने से ऊंच या नीच मालूम होती है, किन्तु वास्तव में वह आत्मा ऊंच या नीच नहीं है। इसी प्रकार योगी जन को विचारना चाहिये। अग्नि की ज्वाला जिस प्रकार क्षण क्षण में नई उत्पन्न होती है और क्षण २ में नाश होती है, किन्तु वह हमलोगों के जानने में नहीं आती, उसी प्रकार अविच्छिन्न देह वाले काल से आत्मा का शरीर भी क्षण भर में नाश होता है और क्षण में ही नया उत्पन्न होता है, लेकिन हमलोगों के जानने में नहीं आता। इसलिये शरीर को क्षणभंगुर समझ कर योगी पुरुष को वैराग्य रखना चाहिये। यह शिक्षा अग्नि से उन्हों ने गृहण की।

चन्द्र—चन्द्र की प्रकाश रूप कला जिस प्रकार क्षय वृद्धि को प्राप्त हुआ करती है, किन्तु चन्द्रमा में उससे कुछ भी विकार नहीं होता, उसी प्रकार जन्म से मरण पर्यन्त के ६ विकार भी गुप्त रीति से बीतते हुए काल के वश से शरीर को ही होते हैं, किन्तु आत्मा को ये विकार नहीं प्राप्त होते। यह शिक्षा चन्द्रमा से उन्हों ने गृहण की।

सूर्य—जिस प्रकार सूर्य आठ महीने तक अपनी किरणों के द्वारा जल को पृथ्वी से गृहण कर के वर्षाऋतु आने पर पुनः किरणों द्वारा त्याग देता है और उसकी प्राप्ति या त्याग के विषय में अभिनिवेश नहीं करता, उसी प्रकार योगी पुरुष को भी चाहिये कि वह अपेक्षित पदार्थों को इन्द्रियों द्वारा गृहण करा लिया करे और

किसी के मांगने पर उसे दे भी दे; और उन पदार्थों में आसक्त नहीं होना चाहिये। किन्तु उसमें "यह मुझे प्राप्त हुआ था; यह मैंने दे दिया" ऐसा अभिनिवेश नहीं करना चाहिये। सूर्य एकही है, किन्तु उसके प्रतिबिम्ब जलपात्र या तालाब आदि उपाधियों में पड़ने से स्थूल बुद्धि वालों को अनेक सूर्य मालूम होते हैं, किन्तु वह वास्तव में ऐसा नहीं है; वैसे ही परमात्मा का प्रकाश सम्पूर्ण वस्तुओं में होने पर भी परमात्मा अद्वितीय (एकही) है, यह शिक्षा सूर्य से ग्रहण की।

८ होला नामक—एक पक्षी अपनी स्त्री होली के प्रेम में फंसा हुआ था। होली के बच्चे हुए। एक समय वे दोनों बच्चों के वास्ते चारा लेने गये थे, उसी समय एक शिकारी ने आकर उनके बच्चों को जाल में फंसा लिया। होला तथा होली ने आकर रोना विलपना शुरू किया। बच्चे जाल में तड़प २ कर चिल्लाने लगे। यह देख कर अत्यन्त कष्ट से होली उनके पास 'चां' 'चां' करती जा पहुंची। प्रेम से आतुर और ईश्वरीय माया से व्यग्र चित्तवाली होली बच्चों को बंधा हुआ देखने पर भी स्मृति भूल जाने से जाल में जा फंसी। यह देख होला भी निराश हुआ और प्राण से भी अधिक बच्चों और स्त्री को इस प्रकार फंसे हुए देख विलाप करता हुआ वह मूर्ख भी जीने की आशा छोड़ मृत्यु का ग्रास बन गया। सफल क्रूर शिकारी ने घर जाकर उन सबों को मार डाला। इस प्रकार जो कुटुंबी मनुष्य अशांत चित्त वाला, सुख दुःखादिक पदार्थों में लगा

हुआ कुटुम्ब काही सिर्फ पोषण किया करता है वह मनुष्य इस होले के समान परिवार सहित दुःखी होता है। घर की आसक्ति पशु, पक्षियों को भी अनर्थदायी होती है, तब मनुष्यों को अनर्थकारी होने में क्या संदेह है? इसलिये मुक्ति का खुला द्वार रूप मनुष्यावतार को पाकर जो मनुष्य होले के समान घर में आसक्त होकर रहता है उसको विद्वान् लोग ऊपर चढ़ कर गिरा हुआ समझते हैं।

अजगर--जिस प्रकार अजगर उद्यमरहित होकर अच्छा बुरा, कम या ज्यादा जो कुछ ईश्वर की इच्छा से प्राप्त हो जाता है उसी को खाकर पड़ा रहता है, वैसेही योगीजन को भी उद्यम रहित होकर जो कुछ भला बुरा, थोड़ा या अधिक मिल जाय उसको खाकर निर्वाह करना चाहिये; और जिस प्रकार उद्यमरहित मनुष्य को भी प्रारब्धवशात् सुख दुःख स्वयं ही प्राप्त हुआ करते हैं उसी प्रकार चाहे नरक में रहो या स्वर्ग में परन्तु वहां पर भी इन्द्रियसम्बन्धी सुख अवश्य प्राप्त होता है। इस के लिये (भिक्षा के लिये) इधर उधर धक्का न खाकर जो कुछ ईश्वरेच्छा से प्राप्त हो जाय उसी को खाकर प्रसन्न रहना चाहिये। इस शिक्षा को उन्होंने अजगर से प्राप्त किया।

समुद्र--जिस तरह ऊपर से प्रसन्न, अन्दर से गंभीर, अन्त या पार से रहित है उसी प्रकार योगी पुरुष को भी बाहर से प्रसन्न, अन्दर से गंभीर, अन्त या पार-रहित और रागद्वेषादिक से निर्लेप, निर्विकार रहना

चाहिये; और समुद्र वर्षा ऋतु में अनेक नदियोंके संगम से भी वृद्धि को प्राप्त नहीं होता और ग्रीष्म ऋतु में नदियों का संगम बन्द हो जाने पर सूखता भी नहीं, वैसे ही ज्ञानियों को भी ईश्वरपरायण हो कर वैभवादिक से प्रसन्न नहीं होना चाहिये और उन के न मिलने से दुःखी भी नहीं होना चाहिये; अर्थात् लाभ होने से न तो हर्ष मानना चाहिये और हानि होने से शोक भी न मानना चाहिये।

११ पतंग—जिस तरह दीपक की दीप्ति को देख कर लालच के अधीन हो कर उस में जा पड़ता है, वैसे ही अजितेन्द्रिय पुरुष भी ईश्वरीय मायारूप स्त्री के रूप को देख उस के विलासों में ललचा कर महामोह में मोहित हो जाता है। स्त्री, सुवर्ण, आभरण और वस्त्रादि पदार्थों में जो कि सब माया स्वरूप ही हैं उपभोग बुद्धि से ललचा कर अन्धे के समान मूढ पुरुष पतंग के समान नाश को प्राप्त होता है। इस कारण ज्ञानी पुरुष को स्त्री, पुत्र धनादि के मोह में नहीं फंसना चाहिये, यह शिक्षा उन्हों ने पतंग से ली।

१२ भ्रमर—जिस प्रकार सुगंध के लोभ से एक ही कमल में लुब्ध हो जाता है और सूर्यास्त होने पर उसी में बन्द हो जाता है, उसी प्रकार योगी को अच्छा पदार्थ मिलने पर एक ही जगह में नहीं रहना चाहिये। ऐसा करने से वहां के प्रेम में वह बंध जाता है; इस लिये योगी पुरुष को चाहिये कि किसी एक ही गृहस्थ को न सता कर भ्रमण करते हुए जो कुछ थोड़ा बहुत

मिल जाय उसे खाकर शरीर यात्रा का निर्वाह करे, न कि भ्रमर की तरह एक ही स्थान में अति प्रेम वश हो बंध जाय। भ्रमर जिस प्रकार छोटे बड़े पुष्पों में से सार वस्तु को गृहण कर लेता है, उसी प्रकार योगी को भी छोटे बड़े शास्त्रों में से विचार पूर्वक सार वस्तु को गृहण करना चाहिये।

मधुमक्खी—जिस प्रकार अनेक यत्न कर मधु को एकत्रित कर के मृत्यु के अधीन हो जाती है और मधु वहीं का वहीं पड़ा रह जाता है, योगी को चाहिये कि वह जितना अपने हाथ में आसके उतने से अपने पेट का पालन करे और उस के लिये दूसरा पात्र न रक्खे। पेट ही को पात्र समझे, वह सायंकाल या आगामी दिन के लिये अन्न संगृह न करे; ऐसा करने से मधुमक्खी की तरह अन्न के साथ ही वह स्वयं भी नष्ट होता है।

हाथी—जिस प्रकार सामने बनावटी कागज की हथिनी को देख उस के मोह से गढ्हे में पड़कर बन्धन को प्राप्त होता है, वैसेही पुरुष भी स्त्री के अंगों के स्पर्श की इच्छा से उसमें आसक्त हो जाता है। इस लिये योगी को स्त्री तो क्या, कठपुतली को भी न देखना चाहिये।

भील—जिस तरह मधुमक्खी द्वारा अनेक संकटों को सहन कर के पेड़, कन्दरा आदि स्थल में एकत्रित मधु को भोगता है वैसेही अनेक संकटों को सहन कर लोभी मनुष्य के द्वारा एकत्रित किया

हुआ धन गुप्त स्थल में से भी लेजाकर बलवान् पुरुष भोगते हैं। इस लिये योगी पुरुष को किसी वस्तु का संग्रह बिलकुल नहीं करना चाहिये; और मधुमक्खी के एकत्रित मधु को भील जिस प्रकार प्रथमही भोगता है उसी प्रकार योगी पुरुष को भी गृहस्थ के यहां बनाहुआ अन्न यदि उसने न खाया हो तो प्रथमही खालेना चाहिये (गृहस्थ को भी उचित है कि वह प्रथम संन्यासी को भोजन कराकर पश्चात् स्वयं भोजन करे, यह शास्त्र की मर्यादा है। सारांश यह है कि योगी पुरुष को उद्यम के बिना भी भोजन प्राप्त हो जाता है) यह ज्ञान भील से उन्होंने ग्रहण किया।

१६ हरिण-जिस प्रकार शिकारी के गायन को सुनकर और मोहित होकर बन्धन को प्राप्त हो जाता है, वैसेही जंगल में भ्रमण करने वाले योगी पुरुष भी गान सुनें तो मोह को प्राप्त हो बंध जाते हैं। इस कारण संन्यासी को कभी विषय संम्बंधी गान न सुनना चाहिये। मृगी के पुत्र ऋष्यशृंग ऋषि वेश्याओं के विषय-संबन्धी नाच, बाजे गानादिक सुनकर पुतले के समान उन के अधीन हो गये थे। इस कारण योगी को विषय सम्बन्धी गान बिलकुल नहीं सुनना चाहिये, इस शिक्षा को हरिण से उन्हों ने ग्रहण किया।

१७ मछली-जिस तरह जीभ के लालच से कांटे से बिंधकर मृत्यु को प्राप्त होती है वैसेही रसमोही देहाभिमानी

मनुष्य भी अत्यन्त कष्टदायी जिह्वा की लालच से मृत्यु को प्राप्त होता है। विद्वान् पुरुष आहार को त्यागकर दूसरी इन्द्रियों को शीघ्र ही जीत लेते हैं, किन्तु उनसे रसना (जीभ) इन्द्रिय नहीं जीती जा सकती। कारण यह है कि आहार के त्याग से जीभ की लालच और ज्यादा बढ़ती है और सब इन्द्रियों को भी जीत लेने पर भी जबतक जीभ न जीती जायगी, तबतक मनुष्य जितेन्द्रिय नहीं कहा जा सकता। जीभ को जीतने से और इन्द्रियों को जीतना कठिन नहीं है। इस कारण इस में आसक्ति न रखकर योगी पुरुष को चाहिये कि वह अन्न को औषध के समान समझ कर खाय। यह ज्ञान मछली से उन्होंने ग्रहण किया।

पिंगला—नामकी एक वेश्या विदेह राजा के नगर में रहती थी। वह एक दिन पुरुष को अपने रतिस्थान में लाने की लालच से उत्तम २ वस्त्र, भूषणादिक धारण कर सायंकाल अपने दर्वाजे पर बैठी थी और आये हुए पुरुष के चले जाने पर "अभी और कोई विशेष धन देने वाला धनी मनुष्य मेरे पास आवेगा" इस दुष्ट आशा से बैठी थी। कभी भीतर जाय कभी बाहर आकर दरवाजे पर बैठे, इस प्रकार आशा ही आशा में उसे नींद भी न आई; धन की लालच में इसे रात भर नींद न आयी इससे उसका मुंह सूख गया। निराश होकर "अब यह काम बुरा है" इसप्रकार निराश होने से उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और देहबन्धन से छूटने के लिये इस प्रकार गाने लगी—अहो! मूर्खता

के कारण मैं मन को न जीत कर तुच्छ पुरुषों से काम की इच्छा रखती हूं । ये परोक्ष अंतर्यामी परमेश्वर जो कि निरंतर पास में रहते हैं और धन के तथा आनन्द के दाता हैं, उनको छोड़कर मैं कामना को न देने वाले पुरुष की इच्छा रखती हूं । अहो ! मैं स्त्री-लम्पट, लोभी और शोचनीय दशावाले पुरुषों के साथ रति की इच्छा रखती हूं । पुरुष का शरीर हाड़, मांस, मल, मूत्र से भरा हुआ और चमड़े से मढ़ा हुआ है; उसकी मैं उपासना करती हूं—यह बड़ी भारी मूर्खता की बात है । महा ज्ञानी विदेह के नगर भर में मैं एक ही मूढ़ बुद्धिवाली हूं तथा दुष्टा हूं; क्योंकि स्वरूप देनेवाले इन अविनाशी अन्तर्यामी ईश्वर को छोड़कर दूसरे भोग की इच्छा करती हूं; ईश्वर ही प्राणियों के परम मित्र और प्रिय आत्मरूप हैं ।

इस लोक में तथा परलोक में ईश्वर के सिवाय और कोई सेव्य नहीं है । पूर्वकाल के सुकर्म का फल है कि मुझ को इस दुष्कर्म से हटा कर वह वैराग्य की ओर खींच लाया है । अब मैं सब दुष्ट आशाओं को छोड़ कर केवल ईश्वर ही की शरण लेती हूं । उस के बिना कौन इस संसार के विषयों में से अलगाकर सद्गति दे सकता है ? इस प्रकार निश्चय कर पिंगला वेश्या विषय वासना को छोड़ और शान्ति धारण कर सो गयी । इस का सारांश यह हुआ कि आशा का रखना [illegible] [illegible] [illegible]

ील—अपनी चोंच में मांस लेकर जारही थी; इतने में उसे किसी दूसरे बलवान् पक्षी ने देखा, तब मांस छीन लेने के लिये वह उसे मारने लगा। जब उस चील ने मांस छोड़ दिया, तब उसे शान्ति मिली। इस से यह शिक्षा प्राप्त हुई कि जो २ अत्यन्त प्रिय वस्तु हैं उन का परिग्रह करना ही दुःखदायी है। यह विचार कर जो मनुष्य परिग्रह का त्याग करता है वही सुखी होता है।

ालक—बालक के लिये जिस प्रकार मान या अपमान कोई वस्तु नहीं है, और गृहस्थ अर्थात् बाल बच्चे वालों को जो २ चिन्ताएं होती हैं उन में से भी उस को कोई चिन्ता बाधा नहीं करती; और कामादिक के वश में न हो कर अकेला विरक्त के समान प्रसन्न रहता है, वैसे ही योगी पुरुष को भी चाहिये।

कुमारी कन्या—एक समय अपने घर में अकेली थी। उस समय उसके यहां पाहुन आये। उन के लिये वह कन्या छिप कर एकान्त मकान में धान कूटने लगी। वहां उस के हाथ की चूड़ियां बजने लगीं। तब उस ने एक २ कर के सब चूड़ियां निकाल दीं, केवल प्रत्येक हाथ में एक एक चूड़ी रहने दी, तब चूड़ियों का चटकना बन्द हुआ। इस से यह शिक्षा मिली कि योगी पुरुष को भी अकेला रह कर ईश्वर का भजन करने से कोई पट्राग नहीं होता।—

—बाण बनाने में इतना लीन था

कि उस के पास से होकर गाजे बाजे के साथ राजा की सवारी निकल गयी, उसे कुछ मालूम नहीं हुआ। वैसे ही योगी मनुष्य को भी संपूर्ण इन्द्रियों को वश में कर एकाग्र चित्त हो ईश्वर का ही स्मरण करना चाहिये।

२३ सर्प--जिस तरह अकेला घूमता है, अपने रहने के लिये कोई खास स्थान नहीं रखता, सचेत रहता है, एकांत में बसता है, उस की गति से न तो वह विषधर ही मालूम पड़ता है और न विषरहित ही, किसी को अपने साथ नहीं रखता, और अल्प भाषण करता है; वैसेही योगी को भी अकेला रहना, अपना निवास किसी एक स्थान में नहीं रखना, सचेत रहना, किसी प्रकार भी दूसरे को अपनी क्रिया न मालूम होने देना चाहिये। अपने साथ किसी को नहीं रखना और थोड़ा बोलना चाहिये। और सर्प जिस प्रकार अपने रहने के लिये कोई बिल नहीं बनाकर दूसरे के बिलों में सुख से रहता है, उसी प्रकार योगी को भी अपने लिये गृह नहीं बनाना चाहिये, और दूसरे लोगों के बनाये स्थानादिक में रह कर काल व्यतीत करना चाहिये; क्योंकि घर का आरंभ करना ही बहुत दुःखदायी होता है और वह अनित्य होने से निष्फल है।

२४ मकड़ी- अपने हृदय से निकली लार को मुंह में बढ़ाती है; और उस से मनोरंजनकर के पुनः उसे निगल

जाती है। इसके लिये किसी दूसरे साधन की जरूरत नहीं पड़ती। इसी प्रकार ईश्वर भी अपने से जगत् को सृष्टि करता है और उस में विहार कर पुनः अपने ही में लीन कर लेता है। इस कार्य में दूसरे साधन की उसे अपेक्षा नहीं रहती—यह शिक्षा उन्हों ने मकड़ी से ली।

भ्रमरी जब किसी कीड़े को पकड़ती है तब वह भय से भ्रमरी के ध्यान में लीन हो जाता है और इसी का स्वरूप बन जाता है। उसी प्रकार आत्मा भी स्नेह, द्वेष तथा भय से जिन वस्तुओं में अपने मन को एकाग्र करती है उन वस्तुओं का रूप वह स्वयं बन जाती है। जब कीड़ा भ्रमरी के भय से भ्रमरी बन जाता है तब मनुष्य ध्यान के द्वारा ईश्वर का रूप बन जाय, इसमें आश्चर्य क्या है?

गुरु दत्तात्रेय का यही शिक्षा का ढंग है। गुरु दत्तात्रेय का एक सम्प्रदाय भी प्रचलित है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी दक्षिण में बहुत हैं।

—योगीन्द्र

देवगुरु बृहस्पति।

बृहस्पति देवगुरु के नाम से प्रसिद्ध हैं। देवराज इन्द्र इन के शिष्य हैं। इन्द्र के दो जन्म हुए थे—पहला जन्म स्वायम्भुव मन्वन्तर में हुआ था। उस समय इन के पिता का

नाम अंगिरा ऋषि और श्रद्धा इनकी माता का नाम था। इन के दो भाई थे—उतथ्य और सम्पवर्त्त; इन की चार बहनें थीं। दूसरा जन्म वैवस्वत मन्वन्तर में हुआ था। इस जन्म में इन के पिता का नाम अंगिरा ऋषि और माता का स्वरूपा था। इन के आठ भाई थे। शुभा और तारा नामक दो स्त्रियां थीं। शुभा से ७ कन्याएं उत्पन्न हुई थीं, तारा से कच्च और विश्वजित् आदि ७ लड़के तथा एक कन्या भी उत्पन्न हुई थी। देवर्षि शस्त्र और शास्त्र विद्याओं में निपुण थे। ये तेजस्वी, बुद्धिमान्, सुन्दर, उत्साही, विद्वान् और दाता थे। सांसारिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार की नीतियों के उत्कट ज्ञाता थे, विद्याभ्यासी अनेक शिष्य इनके पास सदा रहते थे।

देवता और दैत्य दोनों का परस्पर विरोध प्रसिद्ध है। देवता तरह तरह से दैत्यों को दुःख पहुंचाने के लिए सदा उद्योग करते रहते थे, देवताओं के गुरु बृहस्पति और दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य थे। शुक्र अपने शिष्यों की सहायता करते थे और बृहस्पति अपने शिष्यों की। इसी कारण इन लोगों में सदा लाग डांट रहा करती थी। शुक्र ने शुक्रनीति नामक ग्रन्थ बनाया था और बृहस्पति ने बृहस्पति स्मृति। बृहस्पति की नीतिकारों में बड़ी प्रतिष्ठा है। देवताओं के जितने कठिन २ काम हुए हैं उन सब में बृहस्पति का सदा हाथ रहा करता था। जब २ देवताओं पर दुःख आया, जब जब देवगण दानवों के भय से व्याकुल हुए, तबतब बृहस्पति ने उनको [illegible]

लिखना देवराज्य का एक प्रकार का छोटा मोटा इतिहास लिखना है। इन छोटी छोटी जीवनियों के संग्रह में बृहस्पति की जीवनी हम क्या दे सकते हैं। फिर भी इनके विषय में एक प्रसिद्ध घटना का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है।

कहा जाता है कि एक बार बृहस्पति देवताओं से अप्रसन्न हो गये और उन्हों ने नास्तिक मत का प्रचार करना प्रारम्भ किया। उनके द्वारा प्रचारित नास्तिक मत चार्वाक सिद्धान्त के नाम से प्रचलित है। इस विषय की यह कथा प्रसिद्ध है। देवता और असुरों की पारस्परिक शत्रुता प्रसिद्ध है। असुर कैलाशवासी शिव के भक्त थे, और शिव के बनाये तन्त्र ग्रन्थों के अनुसार आचरण करते थे। एक बार असुर त्रिविष्टप में आये। कुछ लोग वर्तमान तिब्बत को त्रिविष्टप कहते हैं। वहां से वे कैलाश पर शिवजी के पास गये। बड़ी श्रद्धा भक्ति के साथ उन लोगों ने शिव जी की पूजा की। असुरों की आराधना से शिव जी प्रसन्न हुए। शिव जी ने असुरों से वर मांगने के लिए कहा—असुरों ने हाथ जोड़ कर कहा—महाराज! देवताओं के अत्याचारों के कारण हम लोग बहुत दुःखी हैं। देवताओं का शिल्पी विश्वकर्म्मा अनेक विमान बना कर उन्हें देता है और वे विमान आकाश में उड़ने वाले होते हैं। देवगण उन विमानों पर चढ़ कर आकाश में उड़ा करते हैं और असुरों का विनाश करते हैं, अब देवताओं के इस अत्याचार से रक्षित होने का त्रिलोक में कोई भी स्थान हम लोगों के लिए नहीं बचा है। अतएव, हमलोग अपनी रक्षा के लिए चाहते हैं। सोने, चान्दी और लोहा के तीन

आकाशगामी नगर यदि हम लोगों के लिए बना दिये जायें, तो देवताओं के अत्याचार से हम लोगों की रक्षा हो सकती है। इस काम के करने की शक्ति आप के अतिरिक्त किसी दूसरे में नहीं है। अतएव हम लोग प्रार्थना करते हैं कि आप इस त्रिपुर का निर्माण करने की कृपा करें। यही वरदान हम लोग चाहते हैं। असुरों की प्रार्थना शिव ने स्वीकार की और असुरों के शिल्पी मायासुर को त्रिपुर निर्माण करने की आज्ञा दी। वह त्रिपुर आकाश में उड़ सकता था और कोई भी उसे तोड़ नहीं सकता। त्रिपुर पा कर असुर बहुत प्रसन्न हुए, वे नये बल से बलवान् हो कर देवताओं को ललकारने लगे। त्रिपुर आकाश में घुमा कर देवताओं के कार्यों में विघ्न डालने लगे। अत्याचार का राज्य हुआ। देवता और उनके पक्षपाती बुरी तरह सताये जाने लगे। इन्द्र व्याकुल हो गये, वे विष्णु के पास गये, दोनों ने मिल कर यह निश्चय किया कि ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिसमें शिव जी असुरों पर अप्रसन्न हो जायं, शिव जी की कृपा से ही ये बलवान् हुए हैं और अत्याचार कर रहे हैं। यदि हम लोग ऐसा प्रयत्न करें और इस प्रयत्न में हम लोगों को सफलता मिले तो लाभ हो। यदि असुर इस तरह समझाये जायं कि वे वेदों की निन्दा करने लगें और ईश्वर से विमुख हो जायं तो अवश्य ही शिव जी उन पर क्रोध करेंगे और उस क्रोध से असुरों का विनाश हो जायगा। इस प्रकार निश्चय कर देव गुरु बृहस्पति ने नास्तिक शास्त्र बनाया, जिस में वैदिक धर्म का उपहास किया गया और ईश्वरवाद का खण्डन किया गया था। उस शास्त्र के तैयार होने पर देवतागण असुरों में उसका प्रचार करने के

लिए घूमने लगे। देवताओं ने असुरों की सभा की और कहने लगे—

"आत्मा क्या है? वेदवादी ब्राह्मणों ने स्वार्थसाधन के लिए आत्मा के विषय में बहुत भ्रम फैला रखा है। वे आत्म-तत्त्व को बड़ा ही गूढ़ बतलाते हैं और बड़े भाग्य से आत्म-ज्ञान होना कहते हैं, पर यह बात सच नहीं। आत्मा प्रत्यक्ष है। उसके विषय में अधिक ढूंढ़ ढांढ़ करना समय नष्ट करना है। यह शरीर ही आत्मा है। अन्न रूपी ब्रह्म से इसकी उत्पत्ति होती है, इस कारण देह आत्मा है। दयालु मनुष्य को चाहिए कि आत्म रूपी देहका नाश न होने दे। इस को किसी प्रकार कष्ट न दे। जो देह रूपी आत्मा को कष्ट देता है वह स्वयं कष्ट पाता है। वेदों में पुत्र को आत्मरूप वतलाया गया है। इससे देह ही का आत्मा होना सिद्ध होता है। देह का अन्न-मय कोष ही वेद के मत से ब्रह्म है। इस देह रूपी आत्मा की हिंसा न करनी चाहिए। वेद और तन्त्रों में जो जीवहिंसा की बात लिखी हुई है, वह क्रूर और नीच पुरुषों की कल्पना मात्र है। राम! राम! वे कितने दुष्ट हैं जो हिंसा से पुण्य का होना बतलाते हैं। अजी, यदि हिंसा से पुण्य हो तो जहर से अमृत होना चाहिए। कहते हैं कि यज्ञ में जिस पशु का वलिदान होता है उसको स्वर्ग मिलता है, तो यजमान अपने पिता का ही बलिदान क्यों नहीं करता। अप्रत्यक्ष देवता और पितरों की तृप्ति के लिए प्रत्यक्ष देह रूपी आत्मा का हनन करना कहां की बुद्धिमत्ता है! श्राद्ध करना भी व्यर्थ है। श्राद्ध में दी हुई बलि क्या प्रेत को थोड़े ही मिलती है। कोठे पर बैठा हुआ आदमी अपने लिए नीचे रखा

हुआ अन्न नहीं खा सकता, तो एक अदृश्य प्रेत श्राद्ध के पिंड से तृप्त हो जायगा इस बात पर कौन बुद्धिमान् विश्वास कर सकता है? केवल ब्राह्मणों को मारने से ही ब्रह्महत्या नहीं होती, किन्तु समस्त शरीर ब्रह्म है, उसकी हत्या करना ही ब्रह्महत्या है।"

इस प्रकार के उपदेश सुन कर असुर बहुत ही क्रोधित और दुःखित हुए। एक असुर ने मरा हुआ कुत्ता ला कर चार्वाक संन्यासी के माथे पर पटक दिया और कहा—लो यह तुम्हारे ब्रम्ह हैं। इस से चार्वाक यति को बड़ा क्रोध आया और बोले—अरे दुष्ट असुर, तूने यह अपवित्र शरीर क्यों छू दिया। असुर ने कहा—तू तो देह ही को ब्रह्म मानता है, फिर यह देह अपवित्र कैसे हुई? यह तो ब्रह्म है न? चार्वाक ने कहा—मृतक देह ब्रह्म नहीं है। यह सुन कर दूसरा असुर दौड़ा दौड़ा गया और एक कुत्ते का बच्चा ले आया, चार्वाक का मुंह उस कुत्ते के बच्चे के मुंह में लगा दिया, इस से चार्वाक को बड़ा क्रोध आया। उसने कहा—तुम बड़े दुष्ट हो। तुमने अपवित्र कुत्ते का मुंह हमारे मुंह में क्यों सटाया? असुर बोला—अजो, कुत्ते का मुंह अपवित्र कैसे? तुम तो जीवित शरीर को प्रभु मानते हो। ब्रह्म भी कहीं अपवित्र होता है? दूसरे चार्वाक ने कहा—शरीर में प्राण वायु है, जिसे प्राणमय कोष कहते हैं, वही ब्रह्म है। शरीर तो स्थूल है, यह ब्रह्म नहीं है, अतएव अपवित्र है। तब एक असुर ने एक चार्वाक के मुंह में अपने मुंह की फूंक मारी। इस से भी चार्वाक अप्रसन्न हुए। उन्हों ने कहा—तुम लोग बड़े उद्धत हो। तुम हमारे मुंह पर अपनी अपवित्र स्वांस को

क्यों छोड़ते हो? असुर ने कहा, आप तो प्राण वायु को ब्रह्म मानते हैं? ब्रह्म अपवित्र कैसे होगा?

चार्वाक ने कहा—प्राणमय कोष ब्रह्म नहीं है, मनोमय कोष ब्रह्म है, वह पवित्र है।

असुर ने कहा—अच्छा, जब तुम सोओगे तो मृतक समझ कर तुमको जला दूंगा, क्योंकि सुप्तावस्था में मन का लय होजाता है।

चार्वाक ने कहा—आनन्दमय कोष ब्रह्म है। शयनावस्था में भी आनन्द रहता है। क्योंकि सो कर उठने पर हम आनन्द से सोये ऐसा अनुभव होता है।

असुर ने यह बात मान ली। ऊपर कहे हुए पांच मत पांच चार्वाक यतियों ने कहे थे। उन के ग्रन्थों में इन मतों का उल्लेख पाया जाता है। चार्वाक मत का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये चार तत्त्व चार्वाक मानते हैं। जगत्कर्ता कोई ईश्वर नहीं है। शरीर में जीव कोई भिन्न वस्तु नहीं है। शरीर की चेतनता चारों तत्वों के संमिश्रण से होती है। केवल एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।

बृहस्पति ने चार्वाक मुनि का रूप धर कर इस प्रकार के मोहकारी मत का प्रचार किया और असुरों को नास्तिक बनाया। चार्वाक मुनि के उपदेश की आंधी से असुरों के हृदय की ईश्वरभक्तिलता उखड़ गई। असुर वेदों और वैदिक कर्मों की निन्दा करने लगे। वे जीवों पर तो दया करने लगे, पर ईश्वरशक्ति का बेतरह खण्डन करने लगे

देवताओं का काम हो गया। बृहस्पति की विद्वत्ता ने देवताओं की कार्यसिद्धि के लिए अज्ञान का प्रचार किया। अपना काम कर के साथियों के साथ बृहस्पति अपने स्थान को चले गये, पर इनका बोया विष बीज फैलता गया, जिस के फल स्वरूप वे सब के सब नास्तिक हो गये और शिव के क्रोध वन्हि में पड़ कर भस्म हो गये।

इसी प्रकार देवगुरु बृहस्पतिजी देवताओं के काम करते थे। ऐसा कोई कठिन प्रसंग देवताओं पर नहीं आया है जिस में बृहस्पति ने इनकी सहायता न की हो। उन सब कार्यों का परिचय देना हमारे लिए कठिन है। बृहस्पति देवताओं के रक्षक थे। वे देवताओं के कल्याण के लिये कर्म अकर्म सभी कर सकते थे। इस कारण देवता भी इन का बहुत सम्मान करते थे। इन्द्र एक प्रकार से बृहस्पति की आज्ञा के वशवर्ती थे।

बृहस्पति नाम का एक तारा भी आकाश में दिखाई पड़ता है। यह सप्तर्षि मण्डल का एक तारा है।

बृहस्पति विद्या के अगाध समुद्र और वक्ता समझे जाते हैं।

दैत्यगुरु शुक्राचार्य।

इन के पिता का नाम भृगुऋषि था और माता का नाम प्रलोभा था। च्यवन, शुचि आदि और भी शुक्राचार्य के भाई

थे। शुक्राचार्य नीतिशास्त्रवेत्ता, धुरन्धर, राज्यकार्यपटु, मन्त्रशास्त्रज्ञ और आचार्य थे। शुक्राचार्य को दैत्यगुरु भी कहते हैं, क्योंकि ये दैत्यों के गुरु थे। दैत्य, दानव आदि उन के उपदेश से चलते थे, दैत्य इन के बिलकुल अधीन थे। इस का एक कारण यह भी था कि इन के पास मृतसञ्जीविनी विद्या थी, जिस के प्रताप से ये मृत मनुष्यों को जीवित कर देते थे। देवता और दानवों से जो युद्ध होता था और उस युद्ध में जो दानव मारे जाते थे, उन्हें शुक्रमहाराज अपनी विद्या के प्रताप से जिला दिया करते थे, इस से दैत्यों का जनबल सदा बना रहता था, वह क्षीण होने नहीं पाता था। जिस प्रकार देवता बृहस्पति को अपना गुरु मानते हैं और बृहस्पति की आज्ञा के अनुसार चलते हैं, उसी प्रकार दैत्य भी शुक्राचार्य को अपना गुरु मानते हैं और उन के कहने के अनुसार चलते हैं। इस सम्बन्ध से इस देव-दानव युद्ध का परिणाम शुक्र और बृहस्पति को भोगना पड़ता था। ये दोनों सदा एक दूसरे के प्रयत्न को असफल करने के लिए प्रयत्न करते थे। देव विजय का अर्थ था बृहस्पति की नीतिकुशलता और इसी प्रकार दैत्य विजय का अर्थ होता है शुक्र की नीतिकुशलता। इस कारण इन दोनों में आपस में सदा लाग डांट रहा करती थी।

एक बार देवताओं के पराक्रम से दानव व्याकुल हो गये, तब उन लोगों ने शुक्राचार्य से कहा कि महाराज, आप के रहते हमलोगों की ऐसी बुरी दशा हो रही है! शुक्राचार्य ने बहुत सोचा विचारा, पर कोई बुद्धि काम न आयी, तब उन्होंने मेघों को खींचकर अपने वश में कर लिया, और चार वर्ष

तक उन्हें कैद रखा। ऐसा करने का शुक्र का तात्पर्य यह था कि मेघों के कैद करने से वृष्टि न होगी, अन्न न होगा, अन्न के अभाव में याग, यज्ञ आदि बन्द हो जायंगे, याग यज्ञों के बन्द होने से देवताओं को भोजन न मिलसकेगा, भोजन न मिलने से वे बलहीन हो जायंगे, फिर तो अपनी विजय निश्चय ही है। देखा आपने? शुक्र जी ने कितनी दूर की बात सोची थी? आखिर ठहरे दैत्य गुरु! पर चार वर्ष के बीतने पर इन्द्र ने शुक्र से युद्ध किया और उन्हे हराकर मेघों को छुड़ा लिया, शुक्र जी की चालाकी एक न चली।

शुक्रनीति नाम की एक संस्कृत पुस्तक नीतिशास्त्र में प्रसिद्ध है। वह शुक्र की बनायी पुस्तक है। शुक्र की नीति का उस में उल्लेख है। कहा जाता है कि शुक्र ने अपने शिष्यों के कल्याण के लिये इस पुस्तक का निर्माण किया था। शुक्र के बाद भी शिष्यों को कष्ट न हो, बुद्धि और युक्ति से वे अपनी रक्षा कर सकें, इस लिये उन्होंने इस पुस्तक का निर्माण किया था।

शुक्राचार्य की स्त्री का नाम जयन्ती था। जयन्ती प्रथम पुरन्दर इन्द्र की कन्या थी। जयन्ती के गर्भ से देवयानी नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई थी। शुक्राचार्य ने शतपर्वा नाम की एक दूसरी स्त्री से भी विवाह किया था, और उस से चार पुत्र उत्पन्न हुए थे, जिनके नाम त्वाष्ट्रधर, अत्रि, रौद्र और कर्पी थे। यह बात लिखी जा चुकी है कि शुक्र मृतसंजीविनी विद्या जानते थे और उस के बल से मरे हुए दैत्यों को वे जीवित कर लिया करते थे। यह विद्या देवताओं के पास नहीं थी। इस लिये देवताओं ने बृहस्पति से कहा कि महा-

राज! ऐसा कोई उपाय कीजिये जिस से हमलोगों को मृतसंजीविनी विद्या का ज्ञान हो जाय। बृहस्पति ने अपने पुत्र कच को शुक्राचार्य के यहां विद्या पढ़ने के लिये भेजा और मृतसंजीविनी विद्या सीखने की भी आज्ञा दी। कच शुक्राचार्य के पास आये। शुक्राचार्य इस से बहुत प्रसन्न हुए, उन्होंने इस बात में अपना गौरव समझा, बड़े प्रेम से शुक्राचार्य कच को पढ़ाने लगे। शुक्राचार्य की कन्या देवयानी भी कच को देख कर बहुत प्रसन्न हुई, वह कच के साथ खेला करती थी। दैत्यों को यह बात मालूम हो गयी कि बृहस्पति का बेटा कच शुक्राचार्य के पास विद्या पढ़ने आया है, शुक्र भी प्रसन्नतापूर्वक उसे पढ़ा रहे हैं। इस से दैत्यों को इस बात का निश्चय हो गया कि अवश्य ही शुक्र इसे मृतसंजीविनी विद्या सिखा देंगे, जिस से देवताओं का बल और बढ़ जायगा। दैत्यों ने कच को मार डालने का निश्चय किया। दैत्य अपने निश्चय को फलवान् करने का सुयोग ढूंढ़ने लगे। एक दिन कच गौ चराने बन में गया था। दैत्यों को यह अच्छा अवसर मिला। उन लोगों ने कच को मार डाला। सन्ध्या होगयी, गौ लौट कर चली आयी, पर कच नहीं आया। देवयानी चारों ओर कच को ढूंढ़ने लगी, पर कच नहीं मिला। देवयानी के मन में सन्देह हुआ, उन्हों ने अपने पिता से कहा, कच अभी नहीं आया, मालूम पड़ता है दैत्यों ने उसे मार डाला है। इधर दैत्य उस से द्वेष करने लगे थे। कच का न लौटना सुन कर शुक्राचार्य भी चिन्तित हुए, उन्होंने भी उस का पता लगाया। शुक्राचार्य को जब इस बात का निश्चय हो गया कि दैत्यों ने कच को मार डाला है, तब उन्होंने अपनी विद्या के प्रभाव से

उसे जिला दिया और उसे मृतसंजीविनी विद्या भी सिखा दी। इस प्रकार कई वर्षों तक रह कर कच ने विद्याध्ययन किया। शुक्र ने जब देखा कि कच विद्या में प्रवीण हो गया तब उन्होंने उसे घर जाने की आज्ञा दी। कच अपने घर जाने लगे। जाने के समय उन्हों ने देवयानी से जाने की आज्ञा मांगी। देवयानी ने अपना व्याह करलेने की अपनी इच्छा प्रकाशित की। कच ने कहा, देवयानी, तुम्हारे साथ रहने से हम को बड़ा आनन्द हुआ है, आगे भी यदि हम लोग साथ रहें तो यह कम प्रसन्नता की बात नहीं है, पर ऐसा संयोग नहीं है, तुम ने जो इच्छा प्रकाशित की है, वह पूरी नहीं हो सकती, क्योंकि तुम हमारी गुरुपुत्री हो और इस तरह हमारी बहिन होती हो, अतएव हमारा तुम्हारा व्याह कैसे हो सकता है। कच के इस प्रकार अस्वीकार करने से देवयानी को बड़ा दुःख हुआ। देवयानी ने कहा, तुमने हमारी प्रार्थना न मानी, इस लिये मैं शाप देती हूं कि तुम ने यहां जो विद्या पढ़ी है वह निष्फल हो जाय। इस पर कच को भी क्रोध आया और उन्हों ने कहा—बिना अपराध शाप देकर तुम ने मेरी विद्या निष्फल की है, इस कारण मैं तुम्हें शाप देता हूं कि कोई भी ऋषिपुत्र तुम से व्याह न करेगा। कच अपने घर चले आये। देवयानी और कच के कलह में विशेष हानि देवयानी ही की हुई। कच की विद्या निष्फल हुई, पर उन्हों ने जो विद्या सीखी थी वह औरों को पढ़ा दी और उन लोगों ने उस का उचित उपयोग किया।

—o—

शुक्राचार्य कर्मकाण्ड के भी निपुण ज्ञाता थे। इन्हों ने राजा बलि को निन्नानवे यज्ञ कराये थे। सौ यज्ञ करने वाला मनुष्य इन्द्रपद पाने का अधिकारी हो जाता है। बलि इसी इच्छा से प्रेरित हो कर यह यज्ञ कर रहा था। निन्नानवे पूरे हो चुके थे, सौवां प्रारम्भ था। इस बात की खबर पा कर इन्द्र बहुत घबड़ाये। इन्द्र की माता अदिति भी बहुत दुःखी हुई। अदिति ने अपने पुत्र का इन्द्रपद बना रहने के लिये तपस्या की। भगवान् विष्णु ने प्रसन्न हो कर वर दिया कि हम आप के गर्भ से वामनरूप में अवतार लेंगे और आपका मनोरथ पूर्ण करेंगे। वैसा ही हुआ। वामन रूपी भगवान् बलि के यज्ञ में पहुंचे। शुक्र वहीं थे; उन्हों ने कहा, ये वामन देवता, देवों की ओर से तुम्हें छलने के लिए आ रहे हैं, बिना इन का स्पष्ट अभिप्राय जाने इन को कोई वचन न देना और पृथ्वी यदि दान में मांगें तो कह देना कि पृथ्वी में देवता, ब्राह्मण आदि अन्य करयों के भाग हैं, इस लिये मैं अकेले पृथिवी दान करने का अधिकारी नहीं। पर बलि ने शुक्र की कोई बात न मानी। उस ने कहा, जब साक्षात् प्रभु ही मांगने आ रहे हैं तब ऐसी कौन सी वस्तु है जो देने लायक नहीं। उस के भाग्य धन्य हैं जिस के द्वारे प्रभु मांगने के लिए आवें। शुक्र चुप हो रहे, वामन ब्राह्मण रूप में बलि के सामने आ कर खड़े हो गये और उन्हों ने तीन पैर पृथिवी दान में मांगी। बलि दान देने के लिए सङ्कल्प करने लगा, झारी से जल लेने लगा, पर शुक्र उस झारी की टोंटी में पहले से घुस गये थे, इस से पानी न निकला। शुक्र की चतुराई वामन की समझ में आ गयी, भीतर भीतर उन्हें क्रोध भी आया कि यह क्यों

हमारे काम में विघ्न डालने के लिए उतारू हुआ है। अतएव एक कुशा लेकर वामन ने झारो को टोंटी साफ कर दी, जिस से शुक्र की एक आंख फूट गयी, तभी से शुक्र एकाक्ष हो गये। वामन जी ने अपना काम पूरा किया, बलि राजा को पाताल का राज्य दिया।

दैत्य, दानवों के उपकार के लिए शुक्र ने अपनी समस्त शक्ति खर्च कर दी, पर दैत्य, दानव थे उजड्ड और मूर्ख, इस से वे शुक्राचार्य के उपदेशों से पूरा पूरा लाभ न उठा सके। शुक्र नामक एक चमकीला तारा अब भी आकाश में प्रकाशित होता है, इस तारा से आस्तिक हिन्दुओं के अनेक मङ्गल कृत्यों का सम्बन्ध है।

महर्षि अगस्त्य।

वैवस्वत मन्वन्तर में मित्रावरुण ऋषि के यहां इनका जन्म हुआ था। ये बड़े ही प्रतापशाली, तेजस्वी और प्रसिद्ध ऋषि थे। उनके जन्म के संबन्ध में विलक्षण कथा पुराणों में लिखी है। अगस्त्य के पिता मित्रावरुण ऋषि थे, यह बात तो ऊपर लिखी ही जा चुकी है। मित्रावरुण का आश्रम समुद्रतीर पर था। समुद्र की लहरियों से किसी दिन ऋषि का कमण्डलु, किसी दिन लंगोटी, किसी दिन कोई और वस्तु समुद्र में चली जाती थी, इस से ऋषि को बड़ा कष्ट था। अपनी आवश्यक वस्तुओं के नष्ट होने के कारण ऋषि का चित्त चञ्चल हो

जाता था, जिस से इन्हें अपने नित्य कर्म में बाधा होती थी, जिस से इनके जप, तप की शृङ्खला बिगड़ जाती थी। ऋषि ने समुद्र की प्रार्थना की, ऋषि ने समुद्र को अपने दुःख बतलाये, पर समुद्र ने ऋषि की बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। अनेक प्रयत्न करने पर भी जब कोई फल न निकला तब ऋषि को क्रोध हुआ, ऋषि ने यह निश्चय किया कि इस जड़ से सीधे ढंग से काम न निकलेगा। ऋषि ने निश्चय किया कि किसी प्रकार ऐसा पुत्र उत्पन्न करना चाहिये जो इस उद्दण्डता का उचित उत्तर समुद्र को दे। इसी इच्छा से प्रेरित होकर पराक्रमी पुत्र उत्पन्न करने के लिए उन्हों ने तपस्या की । तपस्या की पूर्ति पर अपना तेज एक घड़े में रख कर ऋषि ने किसी सुरक्षित स्थान में रख दिया । वह घड़ा ऋषि ने स्वयं किसी विशेष रीति से तय्यार किया था। उचित समय पर वह घड़ा फटा और उस में से एक बालक निकला। यज्ञोपवीत और कटि सूत्र से वह बालक शोभित हो रहा था। उस के मुख मण्डल पर तेजस्विता, पराक्रम और बुद्धिबल के चिन्ह प्रकाशित हो रहे थे । उस बालक का नाम अगस्त्य पड़ा। वह बालक कुम्भ में से उत्पन्न हुआ था, इस कारण उसे कुम्भज भी कहते हैं।

अगस्त्य पिता की आज्ञा से काशी पढ़ने आये, योग्य गुरुओं से इन्हों ने विद्याध्ययन किया । विद्याध्ययन करने के पश्चात् ब्रह्मचारी रह कर तपस्या करने की अपनी इच्छा प्रकट की, पर पिता की इच्छा ऐसी न थी, पिता चाहते थे कि अगस्त्य ब्याह करें, जिस से वंश की रक्षा हो। अगस्त्य ने पिता की इच्छा के अनुसार ही काम करना निश्चय किया ।

अगस्त्य अपना ब्याह करने की इच्छा से कन्या ढूंढ़ने के लिए निकले। उन्होंने बहुत खोजा, पर उनके मनोनुकूल सुन्दरी कन्या न मिली। उसी समय अगस्त्य को मालूम हुआ कि विदर्भ देश के राजा पुत्र के लिए तपस्या कर रहे हैं। अगस्त्य ने अपने तपोबल से ऐसी रचना रची कि जिस से महारानी के गर्भ में कन्या आयी और महर्षि ने उस कन्या पर अपना अमोदित सौन्दर्य भी प्रतिबिम्बित कर दिया। समय पर महारानी के गर्भ से एक कन्या उत्पन्न हुई; राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्हों ने तपस्या की थी पुत्र होने के लिए, पर हुई कन्या। उस कन्या का नाम लोपामुद्रा रखा गया, क्योंकि पुत्र की मुद्रा (चिन्ह) के लोप होने से वह उत्पन्न हुई थी। जब यह कन्या बड़ी हुई तब राजा ने इस के ब्याह के लिए स्वयंवर सभा बनाने की इच्छा की, वे स्वयंवर की तैयारी करने लगे। इसी समय अगस्त्य राजा के यहां पहुंचे और उन्हों ने कन्या अपने लिए मांगी, अगस्त्य की प्रार्थना सुन कर राजा चुप हो गये। विचार कर उत्तर देने के लिए राजा ने अगस्त्य से कहा और उन के ठहरने आदि का भी प्रबन्ध कर दिया। राजा ने इस विषय में लोपामुद्रा का मत पुछवाया, लोपामुद्रा ने ऋषि के साथ ब्याह करने की अपनी इच्छा प्रकट की। कन्या का अभिप्राय मालूम होने पर राजा ने अगस्त्य के साथ उस को ब्याह दिया; दोनों काशी आये। लोपामुद्रा योग्यपति की योग्य स्त्री थी। वह बहुत बड़ी पण्डिता और ज्ञानी थी। उन ने ऋग्वेद के कई सूक्त बनाये हैं।

अगस्त्य तत्त्ववेत्ता थे, वीर थे। धनुर्वेद के बड़े भारी ज्ञाता थे। ये धनुष बाण साथ रखकर सदा देशाटन किया करते थे।

जो राजा धर्म विरुद्ध राज्य करता था, प्रजा को पीड़ा पहुंचाता था, वेदों की निन्दा करता था, गौ, ब्राह्मण की रक्षा में ध्यान न देता था, उस पर अगस्त्य जी का क्रोध प्रकाशित होता था। अगस्त्य जी उसे समझाते बुझाते थे, रास्ते पर आजाने के लिये सावधान करते थे। यदि अगस्त्य जी की बात मानी गयी, अधर्मी राजाओंने अधर्म का मार्ग छोड़ा और वे धर्म के मार्ग पर आगये तब तो ठीक, नहीं तो अगस्त्य उस पर अपना पराक्रम प्रकाशित करते थे। उस से युद्ध करते थे और बल पूर्वक धर्म के रास्ते आने के लिए उसे विवश करते थे। अगस्त्य का ऐसा व्यवहार न केवल अधर्मी राजाओं के ही प्रति था, किन्तु अगस्त्य मनुष्यों को भी धर्म के रास्ते आने के लिए बलके द्वारा विवश करते थे। डाकुओं, लुटेरों को वे दण्ड देने के लिए सदा उद्यत रहा करते थे। अगस्त्य अपने किसी शौक को पूरा करने के लिए, अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए ऐसा नहीं करते थे, किन्तु धर्मव्यवस्था के लिए ही उनका ऐसा आचरण था। किसी के द्वारा धर्म की मर्यादा का अपमान होना, उसका भंग किया जाना पसन्द नहीं करते थे, अतएव किसी के धन हरण करने वाले को, किसी की गौ हरण करने वाले को, किसी स्त्री का अपमान करने वाले को वे कभी क्षमा नहीं करते थे।

अगस्त्य ऋषि व्यूह रचना में बड़े दक्ष थे, धनुर्वेद की अन्य क्रियाओं का ज्ञान तो इन को था ही, पर व्यूह रचना के विषय में ये अद्वितीय पण्डित समझे जाते थे। द्रोणाचार्य और राजा द्रुपद इनके शिष्य थे, उन लोगों ने इन से धनुर्वेद

किया था। इसी से अगस्त्य के धनुर्वेद ज्ञान की अगाधता का परिचय मिलता है। शास्त्र और शस्त्र दोनों प्रकार की विद्याओं में ये दक्ष थे और आवश्यकता पड़ने पर दोनों का उपयोग करते थे।

अगस्त्य जी ने युवा अवस्था में भ्रमण किया था। तीर्थों में गये थे, जंगलों, नदियों और पर्वतों को देखा था। इस से प्राकृतिक पदार्थों का भी इन का ज्ञान बढ़ गया था। ये अपनी यात्रा में केवल प्राकृतिक पदार्थों का निरीक्षण ही नहीं किया करते थे, किन्तु साथ ही धर्मोपदेश का करना भी एक काम था। अगस्त्य के ये काम उस समय से सब समाजों में बड़े गौरव की दृष्टि से देखे गये थे। देवता ऋषि मुनि राजा प्रजा आदि सभी अगस्त्य जी का बड़ा आदर करते थे। अगस्त्य जी के विषय में उन की बड़ी श्रद्धा थी।

अगस्त्य के लोकोत्तर कार्यों में समुद्रपान की कथा तो प्रसिद्ध ही है। दूसरा इन का लोकोत्तर कार्य है विन्ध्यगिरि का निवारण। एक बार विन्ध्य पर्वत बढ़ने लगा, सूर्य देव के मार्ग रोकने की इच्छा से उस ने बहुत ऊंचा शिर उठाया। विन्ध्य के इस आचरण से लोग हाहाकार करने लगे। देवताओं ने अगस्त्य जी से प्रार्थना की कि आप कृपा कर इस विघ्न को हटाने का कोई उपाय कीजिए। दूसरे किसी से विन्ध्य के दमन के लिए प्रार्थना न कर अगस्त्य जी से ही प्रार्थना की गयी और वे ही इस काम के लिए नियुक्त किये गये, इस का एक विशेष कारण था। विन्ध्य अगस्त्य जी का शिष्य था। उस पर गुरु का प्रभाव पड़ेगा, इसी आशा से प्रेरित हो कर देवताओं ने अगस्त्य से विन्ध्यगिरि के दमन की

प्रार्थना की। उस समय अगस्त्य काशी में रहते थे। ये वहां से चले, रास्ते में विन्ध्य पर्वत मिला। उस ने गुरु को देख कर उन को साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया। गुरु ने आशीर्वाद दिया और कहा, बच्चा! इसी तरह तुम तब तक पड़े रहो जब तक मैं लौट कर न आऊं। विन्ध्य ने गुरु की बात मान ली। अगस्त्य जी दक्षिण दिशा में चले गये और तब से लौटे ही नहीं। अगस्त्य जी ने सोमवार को यह यात्रा की थी। इस कारण काशी में यह बात प्रसिद्ध है कि सोमवार को काशी से जाने पर मनुष्य पुनः काशी लौट कर नहीं आता। इसी से धर्मभीरु आस्तिक जन सोमवार को काशी से यात्रा नहीं करते। काशी से सोमवार की यात्रा अगस्त्य यात्रा के नाम से प्रसिद्ध है। अगस्त्य जी दक्षिण से फिर नहीं लौटे और विन्ध्य भी फिर नहीं उठा। इस प्रकार संसारवासियों का बड़ा भारी भय दूर हुआ।

आतापी, वातापी और इल्वल नाम के राक्षस बड़े ही दुष्ट थे। इन लोगों ने अनेक ऋषि मुनि धर्मात्माओं का नाश किया था। इन को कोई ऐसी विद्या मालूम थी कि इन में का कोई जल फल आदि का रूप धर लेता था, वही कृत्रिम जल फल आदि ऋषि मुनियों को सौंपा जाता था, ऋषि मुनि उसे खा पी लेते थे। तब इन में का जो बाहर रहता था वह उस का नाम ले कर उस को पुकारता था। जो पेट में चला गया रहता था बाहर की आवाज सुनते ही वह पेट फाड़ कर निकल आता था और जिस के पेट से ये निकलते थे उस का प्राणान्त हो जाता था। इस रीति से इन लोगों ने अनेक ऋषि मुनियों का नाश किया था। इन के अत्याचारों से उस समय

के ऋषि मुनि सदा भयभीत रहा करते थे। अगस्त्य जी को यह बात मालूम हुई। ये उन असुरों के पास गये। इन के साथ भी उन लोगों ने अपनी पुरानी लीला रची। पर अगस्त्य जी समुद्र पीने वाले थे, इन के पेट में जा कर निकल आना बड़ा कठिन काम था। अगस्त्य जी ने उन राक्षसों को जो फल फूल आदि के रूप में परिणत हो गये थे, खा लिया और पेट पर हाथ फेर कर पचा लिया। चलो, छुट्टी हुई। अब ऋषि मुनियों के प्राण बचे, भय छूटा।

श्री रामचन्द्र जी वनवास के समय अगस्त्य जी के आश्रम पर गये थे। सुतीक्ष्ण ने उन्हें अगस्त्याश्रम का मार्ग बतलाया था। उस समय अगस्त्य का आश्रम दण्डकारण्य में था। गोदावरी के उत्तर तट पर दण्डकारण्य था। कहते हैं कि दण्डक नाम का विदर्भ एक राजा था। वह राजा बड़ा ही यथेच्छाचारी था, धर्माधर्म का खयाल वह कुछ भी नहीं करता था। इससे भृगु ऋषि अप्रसन्न हुए और उन्हों ने राजा का तो नाश करही दिया। साथ ही उस देश के वासियों को और उस देश को भी भस्म कर दिया। तभी से उस भूमि का नाम दण्डकारण्य पड़ा। अगस्त्य जब दक्षिण दिशा में रहने के लिए गये तब इन्होंने अपने आश्रम के लिए दण्डकारण्यकी ही भूमि पसन्द की, पर वह वन बिलकुल सूखा था। वहां रहने से जीवन की आवश्यक वस्तुओं का मिलना कठिन था, अतएव अगस्त्य स्वर्ग में गये और वहां से अमृत लाकर दण्डकारण्य की भूमि को इन्होंने जीवित किया। अगस्त्य जी के अमृत छींटने से वहां की भूमि लहलहा गयी, यह देख अन्य ऋषि मुनियों ने भी वहां आश्रम बनाये और अगस्त्य जी

भी आश्रम बना कर रहने लगे। वहीं सीता और लक्ष्मण के साथ रामचन्द्र भी गये थे। रामचन्द्र जी को अगस्त्य ने उपदेश दिये थे और उन्हें पञ्चवटी में आश्रम बना कर रहने की सम्मति दी थी।

अगस्त्य सप्तर्षिमण्डल के एक सदस्य हैं। एक समय राजा नहुष को संयोगवश इन्द्र का पद मिला। इन्द्रपद के मिलते ही नहुष उन्मत्त हो गया। अपने सामने वह समस्त संसार को तुच्छ समझने लगा। इन्द्र का पद पातेही उसने इन्द्राणी का तलब किया। नहुष के इस आचरण को देख कर इन्द्राणी बहुत ही भयभीत और दुःखित हुई। इन्द्राणी ने बृहस्पति को बुलाकर सभी बातें कहीं, अपनी रक्षा का उपाय पूछा। बृहस्पति भी नहुष का उन्माद देखही चुके थे। उन्हों ने इन्द्राणी से कहा "आप उनसे कहवाएं कि मैं उन के यहां न आऊंगी, वेही स्वय मेरे यहां आवें और पालकी पर चढ़ कर आवें। जिस पालकी पर वह चढ़ कर आवें उसे सप्तर्षि उठाकर ले आवें। इन्द्राणी ने नहुष के यहां यह संवाद भेज दिया। नहुष उन्मत्त तो हुआ ही था। उसे कार्याकार्य का कुछ ज्ञान नहीं था, वह अपनी सुध-बुध बिलकुल खो चुका था, वह कामान्ध हो गया था। सप्तर्षियों को उस ने बुलाया और उन से पालकी उठवाकर इन्द्राणी के पास चला। भला इन सप्तर्षियों ने कब पालकी ढोयी थी, जो इन को पालकी ढोने का अभ्यास हो? वे धीरे धीरे किसी प्रकार पालकी लेकर चलने लगे। पर नहुष इन्द्राणी के लिए बहुत व्याकुल था, उसे थोड़ा विलम्ब भी सहा नहीं जाता था। इससे वही बार बार ऋषियों से चलने के लिए कहता था वह कहता था

"सर्प, सर्प,, अर्थात् चलो। ऋषिगण उस के अन्याय से दुःखी तो थे ही क्रोध भी उनको आया ही था, पर तपस्या-भंग के भय से वे चुप थे। पर अगस्त्य जी से नहुष का अत्याचार न देखा गया। उन्होंने नहुष को शाप दिया " सर्पो भव " अर्थात् तू सांप हो जा। सत्यवादियों की वाणी कभी असत्य नहीं होती। उन के मुंह से जो निकल जाय वह सत्य ही होता है। उसी समय अपनी सब आशाओं के साथ राजा नहुष सर्प हो गये।

अगस्त्य महर्षि थे, महर्षि में जिन गुणों का होना आवश्यक है, वे सब गुण इन में थे। इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं है। महर्षि अगस्त्य ने श्रीरामचन्द्र को कई अमोघ अस्त्र-शस्त्र दिये थे। रावणबध कर जब श्रीरामचन्द्र अयोध्या लौट आये और राज्य करने लगे तब वहां अगस्त्य जी भी अन्य ऋषि-मुनियों के साथ आये। रामचन्द्र जी ने अगस्त्य जी से कई प्रश्न पूछे थे। अगस्त्य जीने उन प्रश्नों का यथोचित्त उत्तर दिया था।

देवर्षि नारद ।

देवर्षि नारद का परिचय भारतवासियों के लिये नया नहीं है । देवर्षि नारद प्रसिद्ध हैं, पढ़े अनपढ़े सभी लोग देवर्षि नारद के विषय में कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य रखते हैं। देवर्षि की अधिक प्रसिद्धि है, इस कारण इन के विषय में तरह तरह

की बातें भी लोग कहा करते हैं। पुराण ग्रन्थों से सङ्कलित कर देवर्षि नारद का परिचय यहां दिया जाता है।—

स्वायम्भुव मन्वन्तर में ब्रह्मा ने दस मानस पुत्र उत्पन्न किये थे। उन्हीं दस मानस पुत्रों में एक नारद भी थे। ब्रह्मा ने सृष्टि प्रसार करने के लिये दस मानस पुत्रों की सृष्टि की थी, पर वे पुत्र इस कार्य के लिये असमर्थ निकले। उन में सात्विक अंश अधिक था, इस कारण संसार के झंझटों में फंसना उन्हें अच्छा नहीं लगा। नारद ने भी अपने अन्य भाइयों का अनुकरण किया और इन्होंने भी ब्याह नहीं किया। ये सदा बाल ब्रह्मचारी रहे, परमात्मचिन्तन ही इन के जीवन का प्रधान उद्देश्य रहा। नारद को विद्याभ्यास का भी बड़ा अच्छा अवसर मिला। इन्हों ने अपने भाइयों के साथ सब विद्याओं का अभ्यास किया, तपस्या की, देवर्षि की पदवी इन्हें प्राप्त हुई और ये सब देवर्षियों में अपनी योग्यता के कारण प्रधान गिने जाने लगे। अधिक से अधिक योग्यता पाने पर भी इन का बाल-स्वभाव नहीं छूटा था। कहा जाता है कि ये इधर की बात उधर कर के लोगों को लड़ाया करते थे। सच्ची बात क्या है यह तो मालूम नहीं, पर प्रसिद्धि ऐसी ही है। इस प्रसिद्धि के कारण ही आजकल भी इधर की बात उधर करनेवालों को नारद की उपाधि दी जाती है। पर ऐसा करना नारद के साथ अन्याय करना है। नारद झगड़ा लगाते थे उत्तम उद्देश्य से प्रेरित हो कर। नारद देवताओं की नीति दैत्यों को बतला दिया करते थे और दैत्यों की नीति यदि मालूम हो तो वह देवताओं को बतला दिया करते थे। इस में इन का उद्देश्य क्या रहता था सो सभी साफ साफ समझ सकते

हैं। नारद छिप कर न तो कोई काम स्वयं करते थे और न दूसरे को ही छिप कर काम करने देना चाहते थे। गुप्तनीति इन्हें पसन्द नहीं थी। ये सभी को सावधान करदेना अपना कर्तव्य समझते थे। सम्भवतः इनका उद्देश्य यह रहा होगा कि योग्यता से लोग विजय पावें। छल कपट से धोखाधड़ी से विजय प्राप्त करने की नीति इनकी दृष्टि में हेय थी। यही इनकी नीति थी। "सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्" को नीति को ये पसन्द नहीं करते थे। नारद की इस नीति के कारण कइयों को हानियां हो जाया-करती थीं। जिसकी हानि होती है वह अपने हानिकर्ता को निन्दा करे इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है।

नारद की गति त्रिलोक में अबाधित थी। ये जहां चाहते वहां जा सकते थे, जिस के यहां चाहते उस के यहां जा सकते थे, इन के लिये कोई रोक-टोक न थी। देवता ऋषि मुनि लोकपाल स्वर्ग पाताल मर्त्य आदि लोकों में ये सदा विचरण करते थे, अतएव इन को सब जगह की खबर भी रहा करती थी। लोगों को भी यह बात मालूम थी कि नारद जी सर्वत्र विचरण करते हैं, अतएव इन्हें कोई न कोई नयी खबर अवश्य मालूम होगी, इसी लिये नारद जी से लोग खबरें पूछा करते थे। जब नारद जी ने लोगों की यह प्रवृत्ति देखी तब वे भी खबरों का संग्रह करने लगे।

ये सङ्गीतविद्या के एक आचार्य हैं। इन की प्रकाशित गान-विद्या नारदी गान के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि पहले पहल नारद ने यमुना के तट पर कहीं आश्रम बनाया और वे वहीं रहने लगे; वहीं इन्होंने गानविद्या का अभ्यास किया। पुनः आश्रम को त्याग कर ये त्रिलोक में घूमने लगे। वीणा इनके पास

सदा रहती थीं और ये सदा अपने में सन्तुष्ट रहते थे। सदा गाया करते थे। इन के गान में नीति और धर्म का उपदेश भरा रहता था। नारद जहां जाते लोग इनके गान और उपदेश सुनने के लिये एकत्रित हो जाते थे। इस के दो कारण थे—एक तो सङ्गीत का रसास्वाद मिलता था, दूसरे धर्म और नीति के उपदेश भी सुनने को मिलते थे। ऐसा सुयोग छोड़ना कोई विरलाही अभागा चाहेगा। इस से नारद जी की सर्वप्रियता बढ़ने लगी। नारद के उपदेशों का असर भी लोगों पर खूब होता था। नारद उपचार से बड़ी घृणा करते थे, महत्व नाम का कीड़ा इन की बुद्धि में नहीं लगा था, अतएव जहां इच्छा होती, गली में कूंचे में सब जगह नारद गाना प्रारम्भ कर देते थे, सब जगह अपना उपदेश देना प्रारम्भ कर देते थे। नारद का उपदेश प्रारम्भ होते ही लोगों की भीड़ लग जाती थी। नारद विरक्त थे, उन्हें न तो किसी को खुश रखना था और न किसी को नाराज करना था। नारद अपना काम करते थे, उस से कोई खुश होना चाहे तो खुश होले और कोई नाराज होना चाहे तो नाराज होले। इन बातों की चिन्ता नारद को न थी। पर नारद पर नाराज कोई नहीं होता था। क्योंकि नारद किसी को नाराजी का कुछ परवाह नहीं करते थे। मनुष्य नाराज होता है भय दिखाने के लिये, दण्ड देने के लिये; पर जो नाराजी से डरता नहीं उस पर नाराज होना व्यर्थ है, उसी से वैसे मनुष्यों पर कोई नाराज भी नहीं होता था। नारद पर सभी प्रसन्न रहते थे। देवता ऋषि मुनि, राजा, प्रजा सभी नारद पर प्रसन्न थे, सभी नारद से बातचीत करना और नारद

स्मरण किया करते थे। विष्णु भगवान् की उन पर बड़ी प्रसन्नता थी। कहते हैं नारद भगवान् के अन्तरङ्ग मित्रों में से थे।

नारद के साठ हज़ार शिष्य थे। उन्हों ने सब को उत्तम ज्ञान की शिक्षा दी थी। नारद ने पञ्चरात्र नामक एक ग्रन्थ बनाया है, जो नारदपञ्चरात्र के नाम से प्रसिद्ध है। इस की पुरानी प्रति इस समय प्राप्त नहीं होती, इस समय जो इस नाम से प्रसिद्ध पुस्तक पायी जाती है उस में बहुत हिस्सा मिला दिया गया है। पर ऐसी बात कहने वाले अपने मत को पुष्ट करने का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं देते। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय का यह मान्य ग्रन्थ है। नारदपुराण नाम का एक ग्रन्थ नारद के नाम से प्रसिद्ध है ।

नारद की कई विशेषताएं हैं। उन में पहली और प्रधान विशेषता यह है कि जहां देखिये वहां नारद हाज़िर हैं। रामचन्द्र की सभा में धर्मशास्त्रियों के साथ नारद धर्मनिर्णय कर रहे हैं। कुवेर की सभा भी नारद से खाली नहीं रहती। इन्द्र की सभा में तो नारद का बड़ाही आदर होता है। नारद के द्वारा लोक-लोकान्तरों की खबर पाकर इन्द्र बहुत प्रसन्न होते हैं। युधिष्ठिर की सभा में भी नारद आये हैं और उन्होंने नीतितत्व के उपदेश दिये हैं। नारद के वे उपदेश नारदनीति के नाम से प्रसिद्ध हैं। लक्ष्मी के साथ विष्णु का ब्याहकरानेवालों में प्रधान नारद ही हैं। ऊर्वशी नाम की अप्सरा इन्द्र को बहुत ही प्रिय थी, पर उसका प्रेम राजा पुरुरवा पर था। राजा पुरुरवा भी उसे चाहते थे, बड़ाही विकट प्रसङ्ग आया, किया क्या जाय, विष्णु को इस की खबर मिली, विष्णु ने इस झगड़े को निपटाने

का भार नारद को दिया। नारद ने इन्द्र को समझाया बुझाया और उर्वशी पुरुरवा को मिल गयी। जालन्धर नाम का एक दैत्य था, इस की स्त्री का नाम वृन्दा था। वृन्दा बड़ी ही पतिव्रता थी, उस के पातिव्रत्य के प्रभाव से वह दैत्य बड़ा बलवान हो गया था। सती के प्रभाव के कारण इस को मारनेवाला कोई नहीं था। इस से उन्मत्त हो कर वह क्रूरता-पूर्वक देवता मनुष्य आदि पर अत्याचार करता था। उस के अत्याचार से लोग दुःखी और हताश हो गये थे। नारद को इस बात की खबर लगी; इन्हों ने युक्ति कर के उसे मरवा-डाला। वसुदेव के यहां कृष्ण जन्म लेंगे, यह आकाशवाणी सत्य है, यह बात नारद ने ही कंस को बतलायी थी। कंस अधिकता और तत्परता से पापकर्म करे, जिससे शीघ्र उस का विनाश हो, इस का प्रबन्ध भी नारद ने ही किया था। वासवदत्ता का पुत्र विद्याधरों का चक्रवर्ती होगा, इस बात को प्रकाशित करने का अवसर नारद को ही सब से पहले मिला था। सत्यवान् के अल्पायु होने की बात भी इन्हों ने ही कही थी, जिस विकट प्रसङ्ग को सावित्री ने अपने सतीत्व के प्रताप से टाल दिया था। बालक ध्रुव को नारदजी ने ही उपदेश दिया था, ऋतुध्वज को भी इन्हों ने ही उपदेश दिया था। इस प्रकार पुराण में जिन बड़ी बड़ी घटनाओं के वर्णन हैं, उन सबों में प्रायः नारद का भी उल्लेख मिलता है। नारद विरक्त महात्मा हैं, पर संसार के कामों में सदा उन्होंने योग दिया है।

नारदजी व्यासजी के आश्रम में गये, व्यासजी

देवर्षि नारद पहुंचे। व्यासजी ने बड़ी श्रद्धासे इन का आदर-सत्कार किया, आसन दिया। नारद सुखपूर्वक आसन पर बैठे। इन्हों ने देखा कि व्यासजी का मुखमण्डल मलीन है, उस पर प्रसन्नता की रेखाएं शोभित नहीं हो रही हैं, यह देख नारदजी ने पूछा, ब्रह्मर्षि व्यास! आपने इतने बड़े महाभारत नाम के ग्रन्थ का निर्माण किया है, जिसमें संसार का ज्ञान आपने भर दिया है, आप ब्रह्मवेत्ता हैं, फिर आप अप्रसन्न क्यों हैं? फिर आपका मुखमण्डल मलीन क्यों है? आप के हृदय में शोकाग्नि की शिखा क्यों जल रही है? मुझे मालूम होता है कि महाभारत बना कर भी आप सन्तुष्ट नहीं हुए। व्यास ने कहा, देवर्षिप्रवर, जो आप कहते हैं वह बिलकुल सत्य है, महाभारत बनाकर भी मेरा मन शान्त नहीं हुआ। नारद ने कहा, ब्रह्मर्षे! मैं आपकी अशान्ति का एक कारण समझता हूं, आपने "महाभारत में भगवद्गुणानुवाद नहीं किया है, आपने सब ज्ञान अपने ग्रन्थ में भरा है अवश्य, पर उस में आपने भगवद्गुण-कीर्तन नहीं किया है। भगवद्गुणानुवाद ही इस धरा-धाम को पवित्र करने वाली उत्तम वस्तु है। अब आप एक ऐसा ग्रन्थ बनावें जिसमें भगवान् का गुणानुवाद हो, जिसमें भगवद्यश गाया गया हो, जिसमें भगवान् के चरणों की महिमा बतलायी गयी हो, जिसमें भगवान् की दयालुता, भगवान् की भक्तवत्सलता का वर्णन हो।" इतना कहनेके पश्चात् व्यास देव के मन को शान्त करने के लिए उन्होंने अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त कहा, जो भगवत्कृपा से नारद ने जाना था। नारद ने कहा—पूर्वजन्म में मैं एक मुनिका दासीपुत्र था। उस मुनि के आश्रम में चातुर्मास्य

बिताने के लिए अनेक ऋषि मुनि प्रतिवर्ष आया करते थे। एक साल सनकादिक ऋषि उस आश्रम में आये; उनकी सेवा करनेके लिए मुनि ने मुझे नियत किया। मैं बड़ी श्रद्धा भक्ति से उनकी सेवा करता था। वे मुझे मितभाषी, इन्द्रियजित्, अचपल और कार्यतत्पर देख कर बहुत प्रसन्न हुए। उनका कृपा भाव मेरे ऊपर बढ़ने लगा। मैं मुनियों का उच्छिष्ट भोजन करता था, जिस से मेरी बुद्धि शुद्ध हुई और धर्म की ओर मेरी बुद्धि झुकने लगी। तब से हरिगुणकीर्तन में मुझे आनन्द आने लगा। परमात्मा के विषय में मेरी बुद्धि दिनोंदिन दृढ़ होती गयी। ऋषिगण भगवान् के निर्मल यश का गान करते थे, भगवान् के विषय में तर्क वितर्क किया करते थे, यह सब मैं बड़े ध्यान से सुनता था। इससे मेरे हृदय में भगवद्भक्ति का उदय हुआ। महर्षियों ने दया-पूर्वक मुझे अधिकारी देखकर मुझे भगवान् के गुप्ततम मन्त्र का उपदेश दिया। मैं भगवद्भक्ति की साधना करने लगा। मुनियों ने मुझे देशाटन करने की आज्ञा दी। मैं अपनी माता का एक ही पुत्र था। मेरी माता असहाय थी। उसे मुझे छोड़ दूसरा कोई अवलम्ब न था। अतएव उसका मुझपर बड़ा मोह था। मैं प्रतिदिन महात्माओं की आज्ञा से जप तप भगवद् भजन, भगवद्ध्यान किया करता था; इससे मेरे हृदय में ज्ञान का प्रसार हुआ। वनमें जाकर तपस्या करने की मेरी इच्छा हुई, पर मेरी माता एक क्षण के लिए भी मुझे अपनी आंखों के ओझल नहीं होने देती थी। कोई गति न देख कर मैं अपनी माता को साथ लेकर देशाटन के लिए निकला। रास्ते में माता को सांप ने काटा, जिससे उस की मृत्यु हुई।

माताकी मृत्यु से मैं बहुत प्रसन्न हुआ, क्योंकि वही मेरे साधन में एक बहुत बड़ा विघ्न थी, भगवत् कृपासे वह विघ्न दूर हो गया। यद्यपि उस समय मेरी अवस्था छोटी थी, पर मैं निर्भय हो कर भगवत्स्वरूप का चिन्तन करता हुआ उत्तर दिशा की ओर चल पड़ा। रास्ते में अनेक सुन्दर नगर, धनियों के अनेक महल, बाग, उपवन, नदी, तालाब मैंने देखे। पर मैं आगे बढ़ता ही गया। मैं एक बहुत ही बड़े और घने वन में पहुंचा। उसमें एक तालाब था। उसके तीर पर मैं बैठ गया। उस समय मैं बहुत थक गया था। हाथ पैर शिथिल पड़ गये थे। आगे चलने की इच्छा न होती थी. भूख प्यास की बाधा अलग ही सता रही थी। मैंने उस तालाब में स्नान किया और थोड़ा जल पीया, इससे शरीर में बल का कुछ सञ्चार हुआ। वहां से थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर मुझे एक पीपल का वृक्ष मिला। उसीके नीचे बैठ कर मैं भगवान् का ध्यान करने लगा, थोड़ी देर के पश्चात् मैं बेसुध हो गया। बाह्य संज्ञा लुप्त हो गयी। उसी समय एक बार मुझे परमात्मा का दर्शन हुआ। थोड़ी ही देर के पश्चात् वह मूर्ति अन्तर्हित हो गयी, उस समय मैं बहुत व्याकुल हुआ। मेरी उत्कण्ठा बढ़ने लगी, भगवान् के पुनः एक बार दर्शन करने की मेरी इच्छा बहुत ही प्रबल हुई, मैंने पुनः ध्यान किया, पर भगवान् के दर्शन न हुए। उसी समय आकाश-वाणी ने कहा—"वत्स! इस जन्म में अब तुम इस मूर्ति का दर्शन नहीं कर सकते। तुम्हारे प्रेम को बढ़ाने के लिए ही मैंने एक बार अपना दर्शन दिया। निष्काम चित्त से ध्यान-योग के द्वारा धीरे धीरे योगी गण मेरा साक्षात्कार पाते हैं।

अभी तुम महात्माओं की सेवा करो, जिससे मुझपर तुम्हारी भक्ति दृढ़ हो। इस देह के अन्त होने पर तुम हमारे लोक में आवोगे। उस समय तुम्हें मेरा नित्य दर्शन होगा और पूर्व-जन्म का ज्ञान भी बना रहेगा। तुम साधन करते जाओ और समय की प्रतीक्षा करो। यह कह कर भगवान् ने मुझे एक वीणा दी। उसी वीणा को बजाते हुए मैं सब जगह घूमने लगा; भगवत्स्वरूप का चिन्तन करने लगा।

इस प्रकार घूमता घामता मैं शिविदेश की राजधानी में पहुंचा। वहां की रानी कैकेयी ने मेरा बड़ा आदर-सत्कार किया। वहां पर्वत ऋषि से मेरी भेंट हुई। हम दोनों वहां बहुत दिनों तक रहे। हम दोनों जो कुछ सोचते विचारते थे वह आपस में प्रकट कर देते थे। वहां के राजा को एक कन्या थी, जिसका नाम दमयन्ती था। पर्वत ऋषि ने राजा से कहा कि आप अपनी पुत्री से मेरा व्याह करदें। राजा ने कहा, मेरी पुत्री का व्याह उससे होगा जिसका व्याह न हुआ होगा। यह सुन कर पर्वत ऋषि ने राजा की पुत्री के साथ अपने व्याह होने की आशा त्याग दी। मुझे भी इन बातों की खबर लगी, मैंने भी राजा से कहा कि आप अपनी पुत्री का व्याह मेरे साथ करदें। पर यह बातें मैंने पर्वत से नहीं कहीं। पर किसी तरह पर्वत को यह बात मालूम हो गयी। उन्हों ने मुझे शाप दिया कि तुम्हारा मुंह विकृत हो जाय। मैंने भी उन्हें शाप दिया कि स्वर्ग में जाने की तुम्हारी शक्ति नष्ट हो जाय। यह शाप सुनकर पर्वत ऋषि पृथिवी प्रदक्षिणा करने निकले। राजपुत्री को जब यह बात मालूम हुई कि उसी के कारण मेरा मुंह विकृत हो गया है तब उसे बड़ी

दया आयी और वह आकर मेरी सेवा करने लगी। बहुत दिनों के पश्चात् पर्वत पृथिवी-प्रदक्षिणा करके लौटे। उन्हों ने अपना शाप हटा लिया, मैंने भी अपना शाप हटा लिया। पीछे राजा ने भी अपनी कन्या का ब्याह मेरे साथ कर दिया। मैं सदा भगवान् का ध्यान करता था। उनकी भावना करते करते ही मैंने शरीरत्याग किया। तदनन्तर भक्तवत्सल भगवान् की कृपा से मैं ब्रह्मा का मानस पुत्र हुआ। तब से मैंने ब्याह नहीं किया। मैं सदा बृहती नामकी अपनी वीणा बजाता रहता हूं, सदा भगवद् गुणानुवाद करता रहता हूं और भगवान् का दर्शन किया करता हूं और प्रभु की कृपा से अपने पूर्व जन्मका वृत्तान्त भी मुझे स्मरण है। इस प्रकार भगवत्कीर्तन का महत्त्व बतला कर नारद चुप हो गये।

नारद के इस उपदेश से प्रसन्न होकर व्यासदेव ने भागवत नामक भगवद्गुणानुवाद पूर्ण एक ग्रन्थ बनाया।

छान्दोग्योपनिषद् में नारद-सनत्कुमार-संवाद नामक एक मनोरंजक कथोपकथन है, वह नीचे उद्धृत किया जाता है।—

एक वार देवर्षि नारद सनत्कुमार के समीप गये और बोले, भगवन्! आप मुझे कुछ उपदेश करें। सनत्कुमार ने कहा—तुम ने क्या पढ़ा है सो कहो, तदनन्तर मैं तुम को उपदेश करूंगा। यह सुन कर नारद ने कहा—भगवन्! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चार वेद, पांचवां वेद इतिहास और पुराण, व्याकरण, पितृसम्बन्धी श्राद्धकल्प, राशि, अर्थात् गणित विद्या, दैव अर्थात् उत्पातविषयक शास्त्र, निधि अर्थात् खनिजशास्त्र, तर्कशास्त्र, एकायन अर्थात् नीति-

शास्त्र, देवविद्या अर्थात् निरुक्तशास्त्र, ब्रह्मविद्या अर्थात् शिक्षाकल्प आदि शास्त्र, भूतविद्या अर्थात् तन्त्रशास्त्र, क्षत्रविद्या अर्थात् धनुर्वेद, नक्षत्र विद्या अर्थात् ज्योतिष, सर्पविद्या अर्थात् गरुड़शास्त्र, और देवजनविद्या अर्थात् नृत्यगीत, शिल्प आदि विज्ञानशास्त्र मैंने पढ़े हैं। भगवन्! मैं शास्त्रज्ञाता हुआ हूं, पर आत्मज्ञाता नहीं हो सका हूं। मुझे आत्मा का प्रत्यक्ष साक्षात्कार नहीं हुआ है। मैंने आपके समान महात्माओं के मुंह से सुना है कि आत्मज्ञाता मनुष्य ही शोकसमुद्र के पार जाते है। मैं शोकार्त हूं; आप मुझे शोक से उद्धार करें। नारद की बात सुन कर भगवान् सनत्कुमार ने कहा, तुमने जो कुछ पढ़ा है वह केवल नाम है अर्थात् शब्द मात्र है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, पञ्चमवेद इतिहास और पुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, दैव, निधि, तर्क, नीति, निरुक्त शिक्षा, कल्पादि, ब्रह्मविद्या, तन्त्र, धनुर्वेद, ज्योतिष, सर्पविद्या, नृत्यगीतादि, देवजनविद्या, आदि सभी के सभी केवल शब्द है। इन्हीं शब्दों में ब्रह्म विद्यमान है, यह समझ कर इन शब्दों की उपासना करो। प्रतिमा के समान शब्द में ब्रह्मबुद्धि कर के जो शब्द की उपासना करते हैं उन्हें जहां तक शब्द जाता है वहां तक स्वच्छन्द गति प्राप्त होती है, पर इस शब्द से भी बड़ी वस्तु है। नारद ने कहा कि भगवान् शब्द से जो बड़ी वस्तु है उसी का मुझे उपदेश करो।

वाक् शब्द से बड़ी वस्तु है, वाक्य ही ऋक्, यजु, साम, अथर्व ये चार वेद, पांचवां वेद इतिहास और पुराण, व्याकरण, श्राद्ध, कल्प, गणित, दैव निधि, तर्क नीति, निरुक्त, शिक्षा कल्पादि, ब्रह्मविद्या, तन्त्र, धनुर्वेद, ज्योतिष सर्पविद्या, नृत्य

गीतादि, देवजनविद्या, स्वर्ग, पृथ्वी, जल, आकाश, देवता मनुष्य, तेज, पशु, पक्षी, उद्भिद्, श्वापद कीट पतंग आदि धर्म, अधर्म, सत्य, असत्, साधु, असाधु, प्रिय, अप्रिय अ. सब को प्रकाशित करता है। यदि वाक्य न होता तो धर्म ध आदि कुछ भी जाना न जाता। वाक्य ही धर्माधर्म को जनाता है, इस कारण वाक्य की उपासना करो।

जो ब्रह्म बुद्धि रखकर वाक्य की उपासना करता है, वह जहां तक वाक्य को गति है वहां तक स्वच्छन्दगति प्राप्त करता है। पर इस वाक्य से भी बड़ी वस्तु है। नारद ने कहा, भगवन्! वाक्य से जो बड़ी वस्तु है उसी का आप उपदेश करें।

मन ही वचन से बड़ी वस्तु है, जिस प्रकार मनुष्य हाथ में लेकर आंवला, बैर या बहेरे के फल का ज्ञान प्राप्त करते हैं उसी प्रकार मन, शब्द और वाक्य का अनुभव करता है। पुरुष जब मन के द्वारा सोचता है कि मन्त्र उच्चारण करूं या कर्म सम्पादन करूं, तभी वह मन्त्रोच्चरण या कर्म सम्पादन करता है, जब यह पशु या पुत्र पाने की इच्छा करता है तभी पुत्र पशु आदि पाता है, जब इस लोक या परलोक के पाने की इच्छा करता है तभी वह उन्हें पाता है। मन ही आत्मा है, मन ही लोक है, और मनही ब्रह्म है; मन की उपासना करो।

जो मन को ब्रह्म समझ कर उसकी उपासना करते हैं वे मनकी जहां तक गति है वहां तक स्व-छन्द गति प्राप्त करते हैं। पर इस मन से भी बड़ी वस्तु है। नारद ने कहा—भगवन्! इस मन से जो बड़ी वस्तु है उसी का आप मुझे उपदेश करें।

संकल्प ही मन से बड़ी वस्तु है। पुरुष जब संकल्प करता है तभी वह वचन आदि इन्द्रियों को परिचालित करता है। और तभी वागिन्द्रिय को शब्द की ओर प्रेरणाकरता है।

तदनन्तर मन्त्र और शब्द एक हो जाते हैं, अर्थात् मन्त्र का उच्चारण होता है। अन्त में सब कर्म मन्त्रों मे मिल जाते हैं अर्थात् कर्म सम्पादन होता है; इस प्रकार देखा जाता है कि सभी संकल्प के अन्तर्गत है। अतएव संकल्प ही बड़ी वस्तु है।

कर्म आदि सभी संकल्प के आश्रित हैं, संकल्प स्वरूप है और संकल्प वर्तमान है। स्वर्ग और पृथ्वी संकल्प से ही उत्पन्न हुए हैं। वायु और आकाश संकल्प से उत्पन्न हुए हैं। जल और तेज संकल्प से ही उत्पन्न हुए हैं। स्वर्ग की उत्पत्ति से वृष्टि की उत्पत्ति हुई है, वृष्टि की उत्पत्ति से अन्न की उत्पत्ति हुई है, अन्न की उत्पत्ति से प्राण की उत्पत्ति हुई है, प्राण की उत्पत्ति-द्वारा मन्त्र की उत्पत्ति हुई है, मन्त्र की उत्पत्ति द्वारा कर्म की उत्पत्ति हुई है, कर्म की उत्पत्ति द्वारा लोक की उत्पत्ति हुई है और लोक की उत्पत्ति द्वारा सब की उत्पत्ति हुई है, संकल्प ऐसी वस्तु है; अतएव संकल्प की उपासना करो।

जो संकल्प को ब्रह्म समझ कर उसकी उपासना करते हैं वे संकल्पित अचल सर्व सुख सम्पन्न और भयरहित समस्त लोगों को प्राप्त करते हैं और स्वयं ध्रुव प्रतिष्ठित और भय-रहित हो जाते हैं।

इस संकल्प की जहां तक गति है वहां तक उन्हें स्वच्छन्द गति प्राप्त होती है। पर इस संकल्प से भी बड़ी वस्तु है। नारद ने कहा—भगवन्, संकल्प से बढ़ कर जो बड़ी वस्तु है उसका उपदेश करो।

चित्तही संकल्प से बड़ी वस्तु है, पुरुष जब पूर्वापर-विचार करता है तब वह संकल्प करता है, वह संकल्प के बाद मनन करता है, मनन के बाद इन्द्रिय करता है तब

नन्तर शब्द—प्रयोग करता है, तदनन्तर समस्त मन्त्र उच्चारित होते हैं, मन्त्र के उच्चारणके पश्चात् समस्त कर्म सिद्ध होते है।

कर्म आदि समस्त चित्त के आश्रित हैं, कर्म स्वरूप है और कर्म में प्रतिष्ठित है। यदि कोई कहे कि अमुक व्यक्ति बहरा है पर वह चित्तरहित है तो उसकी इस बात पर कोई विश्वास नहीं करता, क्योंकि यह असम्भव बात है। यदि कोई कहे कि अमुक व्यक्ति अल्पज्ञ परचित्तरहित है तो उस की इस बात पर कोई विश्वास नहीं करता, क्योंकि यह असम्भव बात है। जिस को ज्ञान है वह कभी चित्तरहित नहीं हो सकता। जिस को चित्त है वही ज्ञानसम्पन्न हो सकता है। उस का ज्ञान भले ही थोड़ा है, तो भी लोग उसकी बातें सुनने की इच्छा करते हैं। संकल्प आदि का चित्त में ही लय होता है। चित्त ही उन का स्वरूप है और चित्त ही उन का आश्रय है। अतएव चित्त की उपासना करो।

जो ब्रह्म समझ कर चित्त की उपासना करते हैं वे चित्त-विषयीभूत ध्रुव प्रतिष्ठित और व्यथारहित समस्तलोकों को प्राप्त होते हैं और स्वयं ध्रुव प्रतिष्ठित तथा व्यथारहित होते हैं। जहां तक चित्त की गति है वहतक उन्हें स्वच्छन्द गति प्राप्त होती है। पर इस चित्त से भी बड़ी वस्तु है।

नारद ने कहा, भगवन्! चित्त से बढ़ कर जो बड़ी वस्तु है उस का उपदेश आप करें।

ध्यान ही चित्त से बड़ा है, पृथिवी अन्तरिक्ष, स्वर्ग, पर्वत, देवता और मनुष्य आदि जो कुछ देखे जाते हैं, वे समस्त मानो ध्यानपरायण हो रहे हैं। इस संसार में जो मनुष्य महान् हुए हैं उन्हें ध्यानफल के द्वारा ही यह महत्त्व प्राप्त हुआ है। छोटा, बड़ा, सीधा, टेढ़ा कलहशील और शान्त सभी

ध्यानफल के तारतम्य से अपने २ दोष-गुणों को प्राप्त होते हैं अतएव ध्यान की उपासना करो। जो ब्रह्म समझ कर ध्यान की उपासना करते हैं वे ध्यान की जहां तक गति है वहां तक स्वच्छन्द गति प्राप्त होते हैं। पर इस ध्यान से भी बड़ी वस्तु है।

नारद ने कहा, भगवन्! ध्यान से जो बड़ी वस्तु है उसका आप उपदेश करें।

विज्ञान ही ध्यान से बड़ा है। विज्ञान अर्थात् अनुभव के द्वारा ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, श्राद्धकल्प, गणित, दैव, निधि, तर्क, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, युद्धविद्या, ज्योतिष, सर्पविद्या, नृत्य-गीतादि-विद्या, स्वर्ग, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वृक्ष, श्वापद, कीट, पतंग, पिपीलिका, धर्म, अधर्म सत्य, मिथ्या, साधु असाधु, प्रिय, अप्रिय, अन्न, रस, इहलोक और परलोक आदि समस्त ही ज्ञात हो जाते हैं। अतएव विज्ञान की उपासना करो।

जो ब्रह्म समझकर विज्ञान की उपासना करते हैं वे ज्ञान-विज्ञान युक्त समस्त लोकों को प्राप्त होते हैं, जहां तक विज्ञान की गति है वहां तक उन्हें गति प्राप्त होती है। पर विज्ञान से भी बड़ी वस्तु है। नारद ने कहा, भगवन्! जो विज्ञान से बड़ा है उसी का आप हमें उपदेश दें।

बल विज्ञान से बड़ा है। सौ विज्ञानी को एक बली विचलित कर सकता है। बली मनुष्य ही उठना चलना समीप जाना, देखना सुनना, मनन आदि में समर्थ हो सकता है। बलशाली मनुष्य ही बोद्धा कर्त्ता और विज्ञाता हो सकते हैं। पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, पर्वत, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण,

तरु, श्वापद, कीट, पतंग और पिपीलिका आदि समस्त बल के अवलम्ब से ही वर्तमान हैं; अतएव बल की उपासना करो।

जो ब्रह्मबुद्धि से बल की उपासना करते हैं, जहां तक बल की गति है वहां तक उन्हें स्वच्छन्दगति प्राप्त होती है। पर बल से भी बड़ी वस्तु है। नारद ने कहा, भगवन्! जो बल से बड़ा है उस का आप उपदेश हम को करें।

अन्न ही बल से बड़ा है, यदि कोई दस दिन भोजन न करे तो वह मर जाता है, यदि न मरे तो दर्शन, श्रवण, मनन बोधकर्तृत्व और विज्ञान आदि की शक्ति नहीं रह जाती। भोजन करने से दर्शन, श्रवण, मनन, बोधकर्तृत्व और विज्ञान आदि की शक्ति प्राप्त होती है, अतएव अन्न की उपासना करो।

जो ब्रह्म समझ कर अन्न की उपसना करते हैं वे अन्नपान से युक्त समस्तलोकों को प्राप्त करते हैं, जहां तक अन्न की गति है वहां तक उन्हें स्वच्छन्द गति प्राप्त होती है। पर इस अन्न से भी बड़ी वस्तु है। नारद ने कहा —भगवन्! जो अन्न से बड़ा है उसी का आप मुझे उपदेश करें।

जल अन्न से बड़ा है। यदि सुवृष्टि न हो तो सब लोग, अन्न थोड़ा होगा, यह सोच कर बहुत दुःखी होते हैं। जब सुवृष्टि होती है तब अन्न अधिक होगा, यह सोच कर सब प्राणी सुख पाते हैं। यह पृथ्वी अन्तरिक्ष, स्वर्ग, पर्वत, देवता मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण. वृक्ष स्वापद, कीट. पतंग और पिपीलिका आदि समस्त मूर्तिमान वस्तु जल के ही परिमाण हैं। अतएव जल की उपासना करो।

जो ब्रह्मबुद्धि से जल की उपासना करते हैं, वे सब कामों

को प्राप्त करते हैं, तृप्त होते हैं और जहां तक जल की गति होती है वहां तक स्वच्छन्दगति प्राप्त करते हैं। पर जल से भी बड़ी वस्तु है। नारद ने कहा—जल से जो बड़ा है उसी का हमको उपदेश आप दें।

तेज ही जल से बड़ा है। तेज वायु रोक कर आकाश को तृप्त करता है। तब लोग कहते हैं कि वायु निश्चल हुआ है, बड़ी गरमी है, शीघ्र ही वृष्टि होगी। पहले तेज देखा जाता है तब वृष्टि होती है। तेज ही ऊर्ध्वगामी और तिर्यग्गामी विद्युत् के साथ मेघों को सञ्चारित करता है, जब विद्युत् प्रकाशित होती है तब मेघ चलते हैं; उस समय लोग कहते हैं कि वृष्टि होगी। पहले तेज देखा जाता है, तब वृष्टि होती है, अतएव तुम तेज की ही उपासना करो।

जो ब्रह्मबुद्धि से तेज की उपासना करते हैं वे तेजस्वी होते हैं और तेजयुक्त तथा तमोहीन समस्त लोकों को प्राप्त करते हैं। जहां तक तेज की गति है वहां तक वे स्वच्छन्द गति प्राप्त करते हैं। पर इस तेज से भी बड़ी वस्तु है। नारद ने कहा, जो तेज से बड़ा है उसी का आप हमको उपदेश दें।

आकाश तेज से बड़ा है। आकाश में ही सूर्य चन्द्रमा विद्युत्, नक्षत्र और अग्निकी स्थिति है। आकाशकी सहायतासे श्रवण और आकाश की सहायता से ही प्रतिश्रवण होता है। आकाश में ही रमण और अरमण होता है, आकाश में ही उत्पत्ति होती है, आकाश को लक्ष्य कर के ही शाखा आदि के उद्गम होते हैं। अतएव आकाश की उपासना करो। जो आकाश को ब्रह्मबुद्धि से उपासना करते हैं वे अवकाशविशिष्ट, प्रकाशविशिष्ट तथा परस्परबाधारहित लोकों को प्राप्त होते

हैं। आकाश की जहां तक गति है वहां तक उन्हें स्वच्छन्द गति प्राप्त होती है। पर आकाश से भी बड़ी वस्तु है। नारद ने कहा, भगवन्! आकाश से जो बड़ी वस्तु है उसी का आप हमको उपदेश दें।

स्मरण आकाश से भी बड़ा है। गुरु शिष्य आदि अनेक लोगों के समागम होने पर भी यदि वे परस्पर अपने २ कर्तव्यों का स्मरण न करें तो वे किसी भी विषय को श्रवण मनन तथा समझ नहीं सकते। स्मरण के द्वारा ही पशु आदि और पुत्र आदि जाने जाते हैं, अतएव स्मरण की ही उपसना करो।

जो स्मरण की ब्रह्मबुद्धि से उपासना करते हैं वे इस स्मरण की जहां तक गति है वहां तक स्वच्छन्द गति पाते हैं। पर इस स्मरण से भी बड़ी वस्तु है। नारद ने कहा, जो स्मरण से बड़ा है उसी का उपदेश हम को करो।

आशा स्मरण से बड़ी है। आशायुक्त स्मरण से ही मन्त्रोच्चारण होता है, और कर्म सम्पादन होता है। पशु युक्त इह लोक और परलोक आदि की कामना होती है, अतएव आशा की उपासना करो।

जो ब्रह्म समझ कर आशा की उपासना करते हैं, इस आशा के द्वारा ही उनकी सब कामनाएं पूर्ण होती हैं, उनके सब मनोरथ सफल होते हैं। इस आशा की गति जहां तक है वहांतक उन्हें स्वच्छन्द गति प्राप्त होती है। पर इस आशा से भी बड़ी वस्तु है। नारद ने कहा, आशा से जो बड़ा है आप उसी का मुझे उपदेश दें।

प्राण आशा से बड़ा है। जिस प्रकार पहिए के धुरा में अरा नाम की सब लकड़ियां लगायी जाती हैं, उसी प्रकार प्राण में सभी सम्बद्ध हैं। प्राण प्राण के द्वारा ही गमन करता है। प्राण ही प्राण को लक्ष्य कर के दान करता है। प्राण ही पिता, माता, भाई, बहन, आचार्य और ब्राह्मण है।

यदि कोई पिता माता, भाई बहिन, आचार्य या ब्राह्मण के साथ अनुचित व्यवहार करता है तो लोग उन को धिक्कार देते हैं। लोग उन को पितृहन्ता, मातृहन्ता, भगिनीहन्ता, आचार्यहन्ता या ब्राह्मणहन्ता कहते हैं।

इस कारण पिता आदि सभी प्राण हैं; इस प्रकार युक्तिद्वारा प्राण को प्रधानता देख कर निश्चय कर या जानकर जो सर्वोत्कृष्ट प्राणात्मवादी हो जाय और उन को यदि कोई अतिवादी कहे तो उन्हें यह मान लेना चाहिये, इस को अस्वीकार नहीं करना चाहिये।

वास्तविक बात यह है कि जो सत्य को ही सर्वोत्कृष्ट आत्मा समझते हैं वे ही यथार्थ अतिवादी हैं। नारद ने कहा, भगवन्! तब मैं सत्य को ही सर्वोत्कृष्ट आत्मा कह कर अतिवादी बनूंगा। सनत्कुमारने कहा हां, सत्य को ही जानने के लिये विशेष प्रयत्न करना आवश्यक है। नारद ने कहा-भगवन्! मैं सत्य को ही जानने की इच्छा करता हूं।

सनत्कुमार ने कहा, जब विशेष रूप से ज्ञान रहता है तभी मनुष्य सत्य बोला करता है, विशेष रूप से बिना जाने कोई सत्य नहीं बोल सकता। मनुष्य अच्छी तरह से जान कर ही सत्य बोलता है। अतएव विज्ञान की ही विशेष रूप से जिज्ञासा

होनी चाहिए। नारद ने कहा—भगवन्, मैं विज्ञान की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करता हूं।

सनत्कुमार ने कहा—जब श्रद्धा होती है तभी मनुष्य मनन करता है, बिना श्रद्धा के मनन नहीं करता। श्रद्धा से ही मनन किया जाता है, अतएव श्रद्धा की ही विशेष रूप से जिज्ञासा होनी चाहिए। नारद ने कहा—भगवन्! मैं श्रद्धा की ही जिज्ञासा करता हूं।

सनत्कुमार ने कहा—जब लोग गुरुसेवा में प्रवृत्त होते हैं तभी श्रद्धा उत्पन्न होती है। गुरुसेवा में प्रवृत्त न होने पर श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती। गुरुसेवा में प्रवृत्त होने पर ही श्रद्धा उत्पन्न होती है, अतएव निष्ठा की ही जिज्ञासा करनी चाहिए। नारद ने कहा—भगवन्! निष्ठा की ही विशेष रूप से मैं जिज्ञासा करता हूं।

सनत्कुमार ने कहा—यत्नपूर्वक सेवा करने से ही सेवा में निष्ठा उत्पन्न होती है। यत्नपूर्वक सेवा न करने से निष्ठा उत्पन्न नहीं होती। यत्नपूर्वक सेवा करने से ही निष्ठा उत्पन्न होती है, अतएव यत्न की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिए। नारद ने कहा—भगवन्! मैं यत्न की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करता हूं।

सनत्कुमार ने कहा—जब गुरुसेवा में सुख मिलता है तभी लोग सेवा में यत्न करते हैं। बिना सुखलाभ के यत्न नहीं होता, सुख से ही यत्न होता है, अतएव सुख की ही विशेषरूप से जिज्ञासा होनी चाहिए। नारद ने कहा, भगवन्! मैं सुख की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करता हूं।

सनत्कुमार ने कहा—जो भूमा अर्थात् महान् या वृहत् है

ये ही सुख हैं, अल्प वा क्षुद्र में सुख नहीं। भूमा ही सुख है। भूमा ही की विशेष रूप से जिज्ञासा होनी चाहिए। नारद ने कहा—भगवन् मैं भूमा को ही विशेष रूपसे जिज्ञासा करता हूं।

जिस के दर्शन श्रवण मनन या विज्ञान से और कुछ द्रष्टव्य, श्रोतव्य तथा विज्ञातव्य नहीं रह जाता वही भूमा है और जिस के दर्शन श्रवण तथा विज्ञान से और भी द्रष्टव्य श्रोतव्य तथा विज्ञातव्य रह जाता है वह अल्प है, वह क्षुद्र है। जो भूमा है वह अमृत है, और जो अल्प है, वह मर्त्य है। नारद ने कहा—भगवन् ये भूमा किस में प्रतिष्ठित हैं। सनत्कुमार ने कहा—भूमा अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है। भूमा की महिमा और भूमा एक ही वस्तु है। महिमा में और भूमा में भेद नहीं है। इस कारण भूमा महिमा में ही प्रतिष्ठित हैं, ऐसा कहने में भी दोष नहीं होता।

इस लोक में महिमा और महिमाशाली दोनों परस्पर भिन्न होते हैं। जो अश्व, हस्ति, हिरण्य, दास, भार्या, क्षेत्र और भवन आदि लोक की महिमा कहे जाते हैं। लोक इस गो अश्व आदि महिमा से भिन्न है। मेरी भूमा और उस की भूमा इस प्रकार यहां परस्पर भेद व्यवहार नहीं होता। इस लोक में एक वस्तु दूसरी वस्तु में प्रतिष्ठित होती है। उस प्रकार भूमा अपने से भिन्न महिमा में प्रतिष्ठित नहीं है, किन्तु स्वरूप भूत महिमा में ही स्थित है।

वेही नीचे, वेही ऊपर, वेही पीछे, वेही आगे, वेही दहिने, वेही बायें, वेही समस्त हैं। इस कारण "अहं" शब्द के द्वारा ही कहे जाते हैं। मैं ही नीचे, मैं ही ऊपर, मैं ही पीछे, मैं ही आगे; मैं ही दहिने, मैं ही बायें. मैं ही समस्त हूं।

भूमा आत्मा भी कहा जाता है, आत्मा ही नीचे, आत्मा ही ऊपर, आत्मा ही पीछे, आत्मा ही आगे, आत्मा ही दहिने, आत्मा ही बायें और आत्मा ही समस्त है। इस भूमा पुरुष को इस प्रकार दर्शन, मनन और अनुभव करने से मनुष्य आत्म-प्रेमी, आत्मा में क्रीड़ाशील, आत्ममिथुन, आत्मानन्द और स्वप्रकाश होता है। यह सब लोगों में स्वच्छन्दतापूर्वक गमन कर सकता है। जो इस भूमा को इस प्रकार न देख कर दूसरे प्रकार से देखते हैं, वे दूसरे के अधीन होते हैं, लय होने वाले लोक प्राप्त करते हैं और सब लोकों में स्वच्छन्द गति नहीं पा सकते।

जो भूमा पुरुष का इस प्रकार दर्शन, मनन और अनुभव करते हैं वे आत्मा में ही प्राण, आशा, स्मरण, आकाश, तेज, जल, आविर्भाव, तिरोभाव, अन्नबल, विज्ञान, ध्यान, चित्त, संकल्प, मन, वाक्, नाम, मन्त्र और कर्म आदि समस्त का अनुभव करते हैं।

आत्मदर्शी मृत्यु, रोग, दुःख प्रभृति का दर्शन नहीं करते। वे सर्वदर्शी और सर्वसम्पन्न होते हैं। वे आत्मस्वरूप से एक हैं। तेज अन्न और जल के द्वारा तीन हैं, शब्द आदि विषयों के द्वारा पांच, धातु द्वारा सात, इन्द्रिय गोलक द्वारा नौ, इन्द्रियद्वारा ग्यारह, इन्द्रियवृत्तियों के द्वारा ग्यारह सौ, दर्शनइन्द्रियों की शुभाशुभ वासना द्वारा बीस हज़ार होते हैं। इनका आहार शुद्ध होने पर अन्तःकरण शुद्ध होता है। अन्तःकरण के शुद्ध होने पर अविच्छिन्न स्मृति प्राप्त होती है। स्मृति होने पर अविद्या काम-कर्म आदि की ग्रन्थि टूट जाती है। इस प्रकार जिनको विषय-वासना निर्मूल हो जाती है, भगवान् सनत्कुमार उस को

अज्ञान का पार दिखाते हैं। वे अज्ञान का पार दिखाते हैं इस कारण उन का एक दूसरा नाम स्कन्द कहा जाता है।

महर्षि वशिष्ठ।

महर्षि वशिष्ठ बड़े ऊंचे ज्ञानी, तपस्वी और विद्वान् थे। उनका जन्म स्वायम्भुव मन्वन्तर में हुआ था। ब्रह्मा के दस मानस पुत्रों में से एक ये भी थे। कहते हैं कि महादेव के शाप से ब्रह्मा के इन दस मानस पुत्रों का नाश हो गया था। अतएव वैवस्वत मन्वन्तर में ब्रह्मदेव ने पुनः दस मानस पुत्रों की सृष्टि की। उन में एक पुत्र का नाम वशिष्ठ था। वशिष्ठ बड़ेही ज्ञानी थे। कर्मकाण्ड के बड़े भारी परिडत थे। सूर्य्यवंशी इक्ष्वाकुकुल के राजाओं ने इन्हें अपना कुलगुरु बनाया था। अक्ष-माला नाम की स्त्री के साथ इनका ब्याह हुआ था। राजा निमि ने जितने यज्ञ किये उन सब यज्ञों में आचार्य का पद वशिष्ठ को ही मिला था। एक बार वशिष्ठ इन्द्र के यहां यज्ञ करा रहे थे। इसी समय निमि भी यज्ञ करने के लिए प्रस्तुत हुए। राजा ने वशिष्ठ के यहां यह खबर भेजी। वशिष्ठ ने कहवाया कि आप ठहरिये, मैं यज्ञ समाप्त करा कर आता हूं। पर निमिने वैसा नहीं किया। इन्हों ने गौतम ऋषि को बुलाया और उन्हें आचार्य बना कर यज्ञ करना आरम्भ किया। यज्ञ समाप्त होने पर वशिष्ठ जी राजा के यहां गये, जाकर इन्होंने देखा कि यज्ञ प्रारम्भ है। वशिष्ठ को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने राजा को शाप दिया कि तुम्हारी मृत्यु हो। राजा ने भी वशिष्ठ को मरने का शाप दिया।

जाता, तो अवश्य ही येही विश्वामित्र उसे अपराधी बताते और उसे दण्ड भी देते। पर न मालूम क्यों, किस नैतिक सिद्धान्तके अनुसार इन्होंने महर्षि की गौ छीनना निश्चित किया। राजाके पास सेना थी, अस्त्र शस्त्र थे। साधारण लोग इनबातों से डर जाते हैं, पर वशिष्ठ के पास सेना न थी, अस्त्र शस्त्र न थे, तथापि वे दुर्बल न थे, उनके पास ब्रह्मबल था, ब्रह्मबल के द्वारा उन्होंने विश्वामित्र की सेना का बल स्तम्भित कर दिया। राजा ने बहुत प्रयत्न किया, पर ऋषिबलके सामने उन का राजबल कोई काम न आया। राजा का मनोरथ पूरा न हो सका। वे हार गये। हार बड़ी बुरी होती है। निर्बल मनुष्य हार होने पर प्राणघात करके हार के दुःख से छुटकारा पाता है और सबल मनुष्य हार कर बदला लेने के लिए शक्ति सञ्चय करता है, बल सञ्चय करता है। विश्वामित्र दुर्बल न थे, ये बलवान् राजा थे, इन्होंने अपनी हार पर विचार किया। विचार करने से इन्हें मालूम हुआ कि क्षत्रियबल से ब्रह्मबल बड़ा है। अतएव इन्हों ने धिक्कार के साथ क्षत्रियबल को पुकारा और ब्रह्म-बल की प्रशंसा की—"धिग् बलं क्षत्रियबलं, ब्रह्मतेजो-बलं बलम्।"

राजा विश्वामित्र अब महर्षि विश्वामित्र होने के लिए प्रयत्न करने लगे, इन्हों ने राज्य छोड़ा, राजसी सुख-विलास से मुह मोड़ा, हिमालय के वन में ये तपस्या करने चले गये। विश्वामित्र को गहरी लगन थी अपने उद्देश्य सिद्धि से इन्हों ने घोर तपस्या की। तपस्या से देवता प्रसन्न

विश्वामित्र प्रसन्न हुए। देवताओंने कहा—ब्रह्मर्षि विश्वामित्र, अब आप को ब्रह्मर्षि-मण्डल में मिलने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि जबतक ब्रह्मर्षिमण्डल आप को ब्रह्मर्षि न मानेगा; तब तक हमलोगों की ओर से ब्रह्मर्षि हो कर भी आप ब्रह्मर्षि न हो सकेंगे। यह नीति की बात विश्वामित्र को समझ में आगयी। वे वशिष्ठ के पास गये, क्योंकि वशिष्ठ ही उस समय ब्रह्मर्षिमण्डल के प्रधान थे। वशिष्ठ के पास विश्वामित्र जब पहुंचे तब उन के हृदय में अपने जीत जाने का अहङ्कार था। अहङ्कार ब्रह्मर्षियों के लिए कितना घातक है, यह उन्हें कितना नीचे गिराने वाला होता है, इस की खबर भी विश्वामित्र को शायद न थी। विश्वामित्र को उस रूप में देखकर वशिष्ठ ने कहा—आइए राजर्षिजी! हाय गजब हो गया, विश्वामित्र ने समझा था कि अब हम को वशिष्ठ आदर की दृष्टि से देखेंगे और ब्रह्मर्षि कहेंगे, उस समय हम को भी अपनी विजय पर गर्व करने का अवसर मिलेगा; पर वसिष्ठ के पास आनेपर और उन के द्वारा राजर्षिजी के नाम से सम्बोधित होने पर विश्वामित्र की जैसी दशा हुई होगी भगवान् करे वैसी दशा किसी की न हो। विश्वामित्र क्रोध से अधीर होगये; वे वहां से पैर पटकते चले गये।

वसिष्ठ और विश्वामित्र का सम्बन्ध इस घटना के पश्चात् दूसरे रूप में हो गया। पहले विश्वामित्र अपने को वसिष्ठ से छोटा समझते थे, पहले उन्हें अपने क्षत्रियबल की हीनता का दुःख था, पर इस घटना से वह भाव नहीं रहा। अब विश्वामित्र अपने को वशिष्ठ से किसी तरह

कम नहीं समझते थे, अब उन्हें अपनी हीनता का अनुभव नहीं होता था, किन्तु वे अपने को भी ब्रह्मर्षि समझते थे, और वसिष्ठ को भी। देवताओं ने विश्वामित्र को ब्रह्मर्षि का पद देदिया, पर अब वशिष्ठ उस में बाधक हो रहे हैं। यह सोचकर ये वशिष्ठ से द्वेष करने लगे। उन्हें नीचा दिखाने को तरह तरह का प्रयत्न करने लगे। संयोगवश एक अवसर भी मिल गया। अयोध्याके राजा त्रिशंकु थे। ये बड़े धर्मात्मा राजा थे, इसी शरीर से स्वर्ग देखने की इनकी इच्छा हुई। ये अपने कुलगुरु वशिष्ठ जी के यहां गये और अपना मनोरथ इन्हों ने निवेदन किया। राजा ने गुरु से कहा था कि महाराज, कोई ऐसा याग यज्ञ बतलाइए, कोई ऐसी क्रिया बतलाइए, या आप ही कोई ऐसा अनुष्ठान कीजिए, जिस से मैं इसी देह से स्वर्ग जासकूं। वशिष्ठ ने उत्तर दिया, भाई, ऐसा कोई उपाय नहीं और न कोई ऐसा याग-यज्ञ ही हमें मालूम है जिस से इसी शरीर से तुम स्वर्ग जा सको। राजा वहां से चले गये, पर स्वर्ग देखने की उन की इच्छा बड़ी प्रबल थी। वे वशिष्ठजी के पुत्रों के पास गये। वशिष्ठ के पुत्रों ने राजा का अभिप्राय सुना और उन लोगों ने यह भी सुना कि गुरु ने इस प्रकार के उपाय के लिए नहीं कहा है। इस से उन लोगों को क्रोध आया। उन लोगों ने कहा गुरु की बातों पर तुम्हारा विश्वास नहीं, तुम्हारा यह आचरण म्लेच्छों के समान है, अतएव तुम म्लेच्छ होजाओ। राजा इस से बड़ा दुःखी हुआ। वह अपने घर लौट गया। विश्वामित्र कोई अवसर ढूंढ़ रहे थे। त्रिशंकु और वसिष्ठ के सम्बन्ध में जो बातें हुईं उन की खबर पातेही विश्वामित्र बड़े प्रसन्न हुए। उन्हों ने सोचा कि बड़ा

अच्छा अवसर मिला। इस से कुछ लाभ उठाना चाहिए। वे त्रिशंकु से मिले और यज्ञ कराया, इसी शरीर से स्वर्ग भेजने का वादा किया। राजा भी तैयार हो गया। एक तो स्वर्ग जाने को उस को प्रबल इच्छा थी ही, दूसरे तो वशिष्ठ पर उस का क्रोध हो गया था ; इस कारण वह चाहता था कि यदि ऐसा कोई मिल जाय जो मुझे यज्ञ कराकर स्वर्ग भेज सके तो अच्छा, इस से एक तो मेरी इच्छा पूरी होगी, दूसरे वशिष्ठ का अभिमान चूर होगा। यही सोचकर विश्वामित्र के कथनानुसार यज्ञ करने के लिए राजा भी तैयार हो गया। सब सामग्रियां तैयार की गयीं, यथासमय यज्ञ प्रारम्भ हुआ। देवताओं का यज्ञ में आने के लिए आवाहन किया गया, पर देवता न आये। उन लोगों ने कहा, जिस यज्ञ में यजमान म्लेच्छ है और आचार्य क्षत्रिय है, उस यज्ञ में हम लोग न जायंगे। देवताओं को इस बात से विश्वामित्र का क्रोध और बढ़ गया। उन्हों ने कहा, देवता भी वशिष्ठ की तरफदारी करते हैं? अच्छा, देखा जायगा। उन्हों ने यज्ञ किसी किसी तरह समाप्त किया, पर इस यज्ञसमाप्ति से त्रिशंकु भले ही प्रसन्न हो जायं, विश्वामित्र भले ही अपने आचार्य बनने का गर्व कर लें, पर सच्ची बात यह है कि यज्ञ हुआ ही नहीं, फिर उसकी समाप्ति कैसी? यज्ञ किया जाता है देवताओं के लिए, पर यहां देवता तो आये ही नहीं, फिर काहे का यज्ञ और कैसी समाप्ति? अब बात रही त्रिशंकु के इसी शरीर से स्वर्ग जाने की। सो त्रिशंकु को अपना तपोबल देकर विश्वामित्र ने स्वर्ग भेजा। पर देवताओं ने उन्हें स्वर्ग में आने न दिया। त्रिशंकु को म्लेच्छ समझ कर देवताओं ने स्वर्ग से ढकेल दिया। त्रिशंकु नीचे

गिरने लगे, उन्हों ने वहीं से चिल्ला कर कहा, महाराज विश्वामित्र जी, ये लोग तो मुझे जाने ही नहीं देते, इन्हों ने मुझे ढकेल दिया, मैं नीचे गिरता हूं। विश्वामित्र ने हुंकार कर के कहा कि नहीं, वहीं ठहरो। अब त्रिशंकु बड़ी विपत् में फंसे, देवता ऊपर जाने नहीं देते और विश्वामित्र नीचे गिरने नहीं देते, इस कारण त्रिशंकु को इसी शरीर से बीच में ही लटकना पड़ा।

इस झगड़े में भी विश्वामित्र को नीचा देखना पड़ा, इससे उनका क्रोध और बढ़ा। यह कहना झूठ नहीं है कि इस क्रोध से विश्वामित्र पागल हो गया। हर प्रकार से वशिष्ठ का विरोध करना इन्होंने निश्चय कर लिया। उचित और अनुचित पर इनका ध्यान जाता रहा। जो वशिष्ठ करें उस से उलटा करना, जो वशिष्ठ कहें उससे उलटा कहना, विश्वामित्र की यही नीति हुई। सत्यव्रत राजा हरिश्चन्द्र प्रसिद्ध धर्मात्मा थे। उन्होंने एक यज्ञ किया, वशिष्ठ उस यज्ञ के आचार्य थे। यज्ञ समाप्त होने पर वशिष्ठ घर जाते थे, रास्ते में विश्वामित्र मिले, विश्वामित्र ने पूछा, आपकहां से आ रहे हैं, वशिष्ठ ने इस प्रश्न के उत्तर में हरिश्चन्द्र के यज्ञ की बात कही और साथ ही हरिश्चन्द्र की प्रशंसा भी की। विश्वामित्र ने कहा—तुम झूठ कहते हो, वह राजा तो बड़ा दाम्भिक है ! झूठा है। वशिष्ठ चुप हो गये। विश्वामित्र ने कहा, अच्छा, देखो, मैं उस की असत्यवादिता सिद्ध कर देता हूं। यह कह कर विश्वामित्र हरिश्चन्द्र के पीछे पड़ गये, हरिश्चन्द्र को कष्ट देने के लिए इन्हों ने तपस्या की, तरह तरह के उपाय किये, हरिश्चन्द्र को कष्ट देने को विश्वामित्र ने स्वयं कितने कष्ट

उठाये। ये बातें हरिश्चन्द्र की जीवनघटनाओं के जाननेवालों को मालूम हैं। पर इस सम्बन्ध में भी विश्वामित्र को नीचा देखना पड़ा। इस से विश्वामित्र का क्रोध और बढ़ा। उन्होंने एक राक्षस को ललकारा देकर वशिष्ठ के सौ लड़कों को मरवा डाला। इस से वशिष्ठ को दुःख हुआ ही, पर उन का मत न बदला, उन्होंने विश्वामित्र को तब भी ब्रह्मर्षि पद के योग्य न समझा। बातभी ठीक थी, इतना ऊधम मचाने वाला, बात बात पर क्रोध करने वाला, बच्चों को मारनेवाला, कहीं ब्रह्मर्षि हो सकता है?

वशिष्ठ का विश्वामित्र से कोई द्वेष न था, वे ज्ञानी महात्मा थे। वे जानते थे कि विश्वामित्र तपस्वी अवश्य है, पर उस के मन में सात्विक भाव उत्पन्न नहीं हुए हैं। ब्रह्मर्षि होने के लिए सत्यसम्पन्न होना आवश्यक है। जिस का मन ईर्ष्या-द्वेष से घिरा हुआ है, जो बदला लेने के लिये व्याकुल हो रहा है, जो क्रोध के वशीभूत होकर कर्त्तव्याकर्त्तव्य-ज्ञान भूल जाता है, वह ब्रह्मर्षि कैसे हो सकता है, और उसे कोई जिम्मेदार मनुष्य ब्रह्मर्षि कह भी कैसे सकता है वसिष्ठ को कुछ भय तो था नहीं, फिर वे झूठी बात क्यों कहें; अतएव वशिष्ठके ब्रह्मर्षि न कहने पर विश्वामित्र और क्रोध करते जाते थे विश्वामित्र ने असली बात का विचार न किया। वसिष्ठ ब्रह्मर्षि क्यों नहीं कहते, इस का ठीक ठीक पता उन्हों ने नहीं लगाया। इस विषय में उन्हों ने जो कुछ सोचा भी तो उलटा ही समझा, जिस से उन्हें अनेक कष्ट उठाने पड़े और उनको कई बार स्वयं नीचा देखना पड़ा। बार बार हार खाने से विश्वामित्र और अधीर हो गये। उन्हों ने

अपनी रहीसही सुधबुध खो दी। एक दिन उन्हों ने निश्चय किया कि आज वशिष्ठ को मार कर हम इस झगड़े का अन्तही कर दें। वशिष्ठ ही न हमारे ब्रह्मर्षि होने मे बाधा दे रहा है, जब यह रहे ही गा नहीं, तो फिर बाधा कौन डालेगा, और हमारे ब्रह्मर्षि होने में भी कोई सन्देह नहीं रह जायगा क्योंकि ब्रह्मा आदि ने तो हमें ब्रह्मर्षि कह ही दिया। यह विचार कर वशिष्ठ को मारने के लिए रात में छिप कर चले। स्वार्थ का बावला कितना अन्धा होता है? देखिए, विश्वामित्र ब्रह्महत्या करके ब्रह्मर्षि होना चाहते हैं। जिस मनुष्य के हृदय में साधारण हत्या नहीं, किन्तु ब्रह्महत्या करने का राक्षसी विचार उठ सकता है, वह भी ब्रह्मर्षि बनना चाहता है?

रात्रि हो गयी थी, वशिष्ठ जी नित्यकर्म से निवृत्त होकर शयन करने का उपक्रम कर रहे थे। अरुन्धती उन के पास बैठी थी। पूर्णिमा तिथि थी। चन्द्रमा का प्रकाश बड़ा ही सुन्दर मालूम पड़ता था। अरुन्धती ने वशिष्ठजी से कहा—महाराज, देखिए, चन्द्रमा का प्रकाश कितना शीतल और भला मालूम होता है! अच्छा, महाराज कहिए, क्या आजकल कोई ऐसा तपस्वी है जिस की तपस्या का प्रकाश इस चन्द्रप्रकाश के समान मनोहर हो, शीतल हो? वशिष्ठ ने कहा—हां, वैसे तपस्वी विश्वामित्र हैं। इस समय विश्वामित्र के समान तपस्वी मेरी समझ से तो दूसरा कोई नहीं है। अरुन्धती ने कहा—महाराज, जब ऐसी बात है तब आप उन्हें ब्रह्मर्षि क्यों नहीं कहते? वसिष्ठ ने कहा, कि उन के हृदय में लोभभाव वर्तमान है, अभी उन के मन में रजोगुण की मात्रा अवशिष्ट है, ब्रह्मर्षि होने के लिए मन को सात्विक बनाने की आवश्यकता है। कुटी

के भीतर ये बातें हो रही थीं; और कुटी के बाहर एक आदमी बैठा था जो वशिष्ठ को मारना चाहता था । महर्षि वसिष्ठ अपने घर में बैठ कर जिस की प्रशंसा कर रहे हैं, वही वसिष्ठ की कुटी के बाहर बैठ कर उन के मारने की तैयारी कर रहा है । इन दोनों प्रति द्वन्द्वियों में कितना अन्तर है ! अवश्य ही ये दोनों एक लोक के जीव नहीं ।

विश्वामित्र ने वसिष्ठ की सब बातें सुनीं । उन का अज्ञान दूर हुआ । सत्य के प्रकाश में उन्हें अपने स्वरूप का परिचय प्राप्त हुआ । उन्हों ने अपने मन में कहा, कहां वशिष्ठ और कहां मैं ! मैं ब्रह्महत्या करने जा रहा हूं, और वे क्षमा की मूर्त्ति अपने सौ पुत्रों के मारे जाने का शोक भूल कर मेरी प्रशंसा कर रहे हैं । मैं तो नरक में पड़ने जा रहा हूं, धिक्कार है मुझको ! भला मेरे समान उपद्रवी मनुष्य कहीं ब्रह्मर्षि हो सकता है ? इस प्रकार सोच विचार कर विश्वामित्र ने अस्त्र-शस्त्र फेंक दिये । वे वहां से उठकर वसिष्ठ के पास गये और उन्हों ने वसिष्ठ को प्रणाम किया । वसिष्ठ ने कहा, आइए ब्रह्मर्षि विश्वामित्र जी, विश्वामित्र को बड़ा आश्चर्य हुआ और साथ ही आनन्द भी । इतने दिनों से जिस ब्रह्मर्षि पद के पाने के लिए वे लालायित थे वह आज प्राप्त हो गया । ब्रह्मा के देने पर जो ब्रह्मर्षि पद विश्वामित्र को प्राप्त न हो सका था, उस का सहसा प्राप्त हो जाना विश्वामित्र के लिए कुछ कम सन्तोष की बात नहीं है । विश्वामित्र ने हाथ जोड़ कर पूछा, महाराज, आज तक आपने हमें ब्रह्मर्षि नहीं कहा था, पर आज कहा, इस का कारण क्या है ? वशिष्ठ ने कहा, आज तक आप के हृदय से राक्षसी भाव दूर नहीं हुए थे, आज तक आप के हाथों में अस्त्र वर्तमान थे,